ॐ श्रीवेदभगवते नमः

अथ

वाजसनेयोपनिषद्

प्रस्तावः ॥

ॐ सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यंकरवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥ ओम् शान्तिःशान्तिःशान्तिः

अन्वितोर्थः–विद्यास्वरूपप्रकाशनेन स वेदैकवेद्यः परमेश्वरो नावाचार्यशिष्यौ सहावतु। वेदान्तज्ञानफलप्रकाशनेन सह भुनक्तु पालयतु । आवां ज्ञानसिद्धं वीर्यं वलं सहैव करवावहै निष्पादयावहै । नावावयोरधीतं तेजस्वि तेजःसाधकमस्तु । शिष्याचार्यावन्योऽन्यं मा विद्विषावहै। न कदापि विद्वेषं करवावहै॥

भावार्थ–वेदान्त विद्याका स्वरूप प्रकाश करने द्वारा एक वेद ही द्वारा ठीक जानने योग्य वह परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु शिष्यों की (सहावतु) साथ ही रक्षा करे तथा ज्ञान फल प्रकाशन द्वारा (नौ) हम दोनों की साथ ही (भुनक्तु) रक्षा करे। हम दोनों ज्ञान से सिद्ध हुए योगवलादि सामर्थ्य को (सह) साथ ही (करवावहै) सिद्ध करें (नौ) हम दोनों का पढा हुआ (तेजस्वि) तेज का वर्धक (अस्तु) हो। हम दोनों गुरु शिष्य (मा विद्विषावहै) परस्पर कभी भी द्वेष वैर विरोध न करें सदा एकमत रहें ॥

प्र०–तावत् प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तो न प्रवर्त्तन्त इत्यतः प्रयोजनमभिधेयम् । तथाचोक्तम् । „सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते । शास्त्रादौ तेन वक्तव्यस्सम्बन्धः सप्रयोजनः" सिद्धो निर्णीतो ज्ञातो वार्थः प्रयोजनमस्य तत् । प्रयोजनश्च चैतन्यविशिष्टमात्रस्य सुखसुखहेत्वोरभीप्सा दुःखदुःख

हेत्वोश्च जिहासैव प्रतिभाति । ते चोक्ते अभीप्साजिहासे यथायथम्पूर्णप्रकारेण लोकेऽनवगते प्रत्युत विपरीते दृश्येते यथाऽप्यज्ञजनः सुखाय कर्माणि कुर्वन्नपि सुखन्न लभतेऽपितु दुःखमपीति तत्र को हेतुरन्योह्यविद्यायाः । तन्नाशिका च विद्यैव सा च द्विविधाऽपरा परा च तथा चोक्तं मुण्डकोपनिषदि—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदस्सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इत्यादि—अथ परा यया तदक्षरमाधिगम्यते इति ॥ सैव परा ब्रह्मसम्बन्धित्वाद्ब्रह्मविद्या शमदमतितिक्षाशान्त्युपरतिध्यानसमाधिरूपा ब्रह्मज्ञानेन संनिकृष्टा । एतस्याश्चाव्यवहितं साधनमुपनिषदोऽत उपनिषच्छब्दवाच्याऽपि पूर्वकर्मोपासनापेक्षया पराऽस्ति । अत्र परापरशब्दौ प्रधानाप्रधानार्थकौ नैव शृह्येते किन्तु सुखाऽवाप्तिदुःखहान्योः पूर्वं साधनमृग्वेदादिकमपरानाम्ना प्रसिद्धम् । द्वितीयं च परानाम्नोक्तम् । यतः विशरणगत्यवसादनार्थस्य सद्धातोरुप नि पूर्वस्य क्विवन्तस्य रूपमुपनिषदिति । तदर्थस्तु ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णास्सन्तो यां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेस्संसारवीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन ब्रह्मविद्योपनिषदित्युच्यते—तथाचोक्तम्—निचाय्य तम्मृत्युमुखात्प्रमुच्यत इति । अथ च यां विद्यामाश्रित्य मुमुक्षवो बृह्म गच्छन्तीति बृह्मप्राप्तिसाधनैकहेतुयोगाच्च ब्रह्मविद्योपनिषत् । तथा च या विद्या क्लेश कर्मविपाकानुभवनिर्म्मिता दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषामिथ्याज्ञानप्रवर्त्तिकाअनादिकालसञ्चिता वासना अवसादयति शिथिलीकरोतीति दुःखवन्धनशैथिल्यापादनेनार्थत्रितयेनापि ब्रह्मविद्योपनिषदिति स्थितम् । उक्तयोश्च दुःखजिहासासुखाभीप्सयोर्ब्रह्मविद्यामन्तरेण सिद्धिर्नैव सम्भवति सर्वदुःखविमुक्तस्य स्वरूपनिष्ठस्य ब्रह्मणो ज्ञानादेव तयोः सम्भवात् । तरति शोकमात्मविदित्यादिश्रुतेः । ब्रह्म च वेदैकवेद्यम् । सर्वे वेदायत्पदमामनन्तीत्यादिश्रुतेः । तत्र कर्मकाण्डे परम्परातो ब्रह्म प्रतिपाद्यते । उपासनाज्ञानकाण्डयोश्च

मुख्यतया साक्षादेव ब्रह्म प्रतिपादितम् । तन्त्वौपनिषदं पुरुषं व्याख्यास्याम इति प्रामाण्यात् तत्र चोपनिषच्छब्दवाच्यं मुख्यं वेदभागरूपं वेदान्तशास्त्रमखिलदुःखमोचकम् । तथाचोक्तम्—
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्
न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः क्षीणसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ आत्मनि चेतसो निवेशनं च वेदान्तशास्त्रोक्तविधिनैव सम्भवति । अतो वेदान्तशास्त्रं जिज्ञासवे सर्वोपरिस्थम् ॥

तत्र चोपनिषच्छब्दप्रसिद्धा बहवो निबन्धास्तेषु द्वादश मूलरूपा विशेषेष्टसाधकत्वान्मुख्या वा तेष्वाद्या वाजसनेयसंहितोपनिषद् । यामीशावास्यमित्यपि वदन्ति । इयं च वाजसनेय्युपनिषच्छुक्लयजुर्वेदवाजसनेयीसंहितान्तर्गता । तत्र यजुर्वेदे चत्वारिंशदध्यायाः । तेष्वेकोनचत्वारिंशदध्यायैस्तु प्राधान्येन कर्मकाण्डमुक्तं तद्यथाविहितकर्मानुष्ठानेन शुद्धान्तःकरणाय साधितशमदमादिसाधनाय भुक्तभोगायापाकृतार्णत्रयाय दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाय कर्मफलमनाश्रित्य निस्पृहं कार्य्यवैदिककर्मकर्त्रे ब्रह्मजिज्ञासवे मुमुक्षवे चत्वारिंशत्तमेनैकेन वाजसनेयोपनिषद्रूपेणाध्यायेनेशावास्यमित्यादिसप्तदशमन्त्रात्मकेन ब्रह्मविषयकं ज्ञानकाण्डमुच्यते। ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषामकर्मशेषस्यात्मनः शुद्धस्वरूपप्रकाशकत्वात्। एकत्वनित्यत्वापापविद्धत्वादिकं च वक्ष्यमाणमात्मनः स्वरूपम् । कर्मकाण्डे चात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसंस्कार्यत्वादिकमङ्गीकृत्य दृष्टानुश्रविकफलमीप्सवे कर्माण्युक्तानि तेषां कर्तृत्वादीनामत्रासंभवाद्युक्त एवैषां मन्त्राणां कर्मस्वविनियोगः। अविद्याहेतुकमेव सर्वं दुःखम् । अविद्यान्धकारनाशायैवोपनिषद्विद्यामूलरूपास्ति ॥

भूमिका भाषा—जब किसी कार्य्य का प्रारम्भ किया जाता है तब उसका कुछ प्रयोजन अवश्य होता है यहां भी उपनिषदों के भाष्य का प्रारम्भ है इस लिये इस का प्रयोजन अवश्य कहना चाहिये क्योंकि पण्डित लोग विना प्रयोजन (जिसके करने में विशेष

फल न हो) किसी कार्य के करने को प्रवृत्त नहीं होते इस लिये प्रयोजन कहना चाहिये। किसी विद्वान् का श्लोक है कि (सिद्धार्थम्०) जिस का प्रयोजन और सम्बन्ध जान लिया हो उस ग्रन्थ के सुनने और पढने के लिये श्रोता लोग प्रवृत्त होते हैं इस लिये ग्रन्थ कर्त्ता को बहुत आवश्यक है कि किसी पर भाष्य बनावे वा कोई ग्रन्थ रचे तो उस शास्त्र के आदि में प्रयोजन सहित उस ग्रन्थ के पढने सुनने तथा तदनुसार आचरण से होने वाले फल सम्बन्ध को अवश्य कहे ॥

और संसार में प्राणिमात्र के अनेक प्रयोजन होने पर भी मुख्य वा मूल प्रयोजन यही है कि सुख और सुख के साधनों को प्राप्त होने की इच्छा और दुःख तथा दुःख के साधनों को छोडने की इच्छा सिद्ध हो। यदि अन्य भी कुछ प्रयोजन हो तो वह इसी में से निकलेगा। और सुख प्राप्ति वा दुःखहानिरूप प्रयोजन संसार में पूर्ण प्रकार से नहीं दीख पडते किन्तु विपरीत तो दीखते हैं। अर्थात् यह नियम नहीं है कि जो पुरुष अपने विचारानुसार वा देखे सुने के अनुसार सुख प्राप्ति का उपाय करे उस को सुख ही प्राप्त हो और दुःख त्याग का यत्न करने वाला दुःख से बचही जावे किन्तु सुख प्राप्ति का यत्न करने वाला कहीं दुःख को भी प्राप्त होता और दुःख छोडने वालेको भी दुःख अकस्मात् प्राप्त होजाते हैं। ध्यान देकर देखने से यही ज्ञात होता है कि इसका कारण अविद्या ही है और अविद्याका नाश विद्यासे ही होसकता है। जैसे अन्धकारका नाश तैजस प्रकाश से ही होता वैसे मिथ्याज्ञान रूप अविद्या तत्त्व ज्ञानरूप विद्यासे ही नष्ट होती है। वह विद्या दो प्रकारकी होती है एक अपरा और दूसरी परा इसमें ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद आदि अपराविद्या और पराविद्या वह है कि जिससे अविनाशी परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। इसी शम, दम, तितिक्षा, शान्ति, समाधिरूप परा को ज्ञान के समीपी होने से ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसी के साक्षात् साधन उपनिषद् हैं इसकारण उपनिषद् शब्दवाच्यभी पूर्व कर्मोपासना की अपेक्षा पराविद्या है। यहां पर और अपर शब्द गौण मुख्य के वाचक नहीं लिये जाते किन्तु सुख की प्राप्ति और दुःखके छुडाने में पहिला साधन अपर नामक ऋग्वेदादि और द्वितीय ध्यान उपसनादि पर साधन है। उपनिषद शब्द का अर्थ यह है कि जो मुमुक्षु जन लोक वा परलोक के सुख की भोगाकांक्षा से विरक्त हुए उपनिषद रूप विद्या को प्राप्त हो के उसी ब्रह्मविद्या में आसक्त हुए अपनी दुःखनिवृत्ति का साधन उसी को निश्चय से मान कर उस विद्या का वार २ अभ्यास करते हैं, उन ज्ञानी जनों की दुःख में बांधने वाली वासनारूप रस्सियों का नाश होनेरूप अर्थ से ब्रह्मविद्या

का नाम उपनिषद् भी है। उपनिषद् में कहा भी है कि उसी ब्रह्म को जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से मनुष्य छूटता है। अर्थात् उपनिषद् शब्द उप, नि, उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्विप प्रत्ययान्त बनता है जिस धातु के तीन अर्थ हैं विशरण, गति, अवसादन, इन में विशरण नाम हिंसा वा नाश का है सो दुःखोत्पादक वासनाओं का नाश प्रथम अर्थ से दिखाया गया। द्वितीय अर्थ गति है सो दुःख वासनाओं के नाश से उसी ब्रह्मविद्या के आश्रित हो मुमुक्षु जन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं इस लिये ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य एक ही साधन होने से भी ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् है। तथा जो विद्या अविद्यादि पांच क्लेश और कर्मफलों के अनुभव से उत्पन्न हुई, दुःख जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान में प्रवृत्ति कराने वाली अनादि काल से सञ्चित वासनाओं को शिथिल करती है अर्थात् दुःख में बांधने वाली वासनारूप रस्सियों को शिथिल करना इन तीनों अर्थों से ब्रह्मविद्या का नाम उपनिषद् भी हो सकता है यह बात स्थिर हुई ॥

पूर्व कही जो सुखप्राप्ति की इच्छा और दुःख का त्याग उस की सिद्धि ब्रह्मविद्या के विना सम्भव नहीं है क्योंकि सव दुःखों से पृथग्जीव स्वरूप में निष्ठ ब्रह्म के ज्ञान से ही सुखप्राप्ति और दुःख का त्याग हो सकता है वेद में भी कहा है कि "आत्मज्ञानी पुरुष शोक के पार हो जाता है"। और ब्रह्म एक वेद से ही जानने योग्य है वेद में कहा भी है कि "सव वेद जिस प्रापणीय परमेश्वरको कहते हैं" इत्यादि सो कर्मकाण्ड में परम्परा से ब्रह्म का प्रतिपादन है तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में मुख्य कर साक्षात् ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। कहा भी है कि "उपनिषद् रूप शास्त्र से जानने योग्य पुरुष-ईश्वर का व्याख्यान करेंगे"। इस में उपनिषद् शब्द से प्रसिद्ध वेदके भागरूप वेदान्तशास्त्रही समस्त दुःखों का छुडाने वाला है सो कहा भी है कि (समाधि०) समाधि से निरन्तर जिस का मल धोया गया ऐसा चित्त जव आत्मामें लगाया जाता है तो उस से जो सुख होता वह वाणी से नहीं कहा जाता किन्तु वही उपासक यथावत् जानता है। परमात्मा में चित्त का निवेश करना वेदान्तशास्त्र में कही विधि के अनुसार वन सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर ही सव से शुद्ध सनातन और तीनों काल में सव दुःखों से रहित है इसलिये उसी के ज्ञान और उपासना से मनुष्य सव दुःखसे छूट सकता है। जैसे उपास्य की उपासना करेगा

वैसे गुणं उपासक में भी खतएव आवेंगे यह न्याय से सिद्ध है। और ईश्वर की ज्ञान उपासना इन्हीं उपनिषद् शास्त्रों से यथावत् सिद्ध होसकती है। इसलिये उपनिषद् रूप वेदान्तशास्त्र का आश्रय ही मनुष्य का अभीष्ट साधक है। इससे यह उपनिषद् शास्त्र जिज्ञासु के लिये सर्वोपरि समझना चाहिये॥

इस वेदान्त शास्त्र में विशेष इष्ट साधक होने से मुख्य वा मूल बारह उपनिषद् हैं उन के नाम ये हैं १-वाजसनेयी (ईश)। २-तलवकार (केन)। ३-कठ। ४-प्रश्न। ५-मुण्डक। ६-माण्डूक्य ७-तैत्तिरीय। ८-ऐतरेय। ९-छान्दोग्य। १०-बृहदारण्व। ११-श्वेताश्वतर। १२-मैत्र्युपनिषत्। इन बारहों में वाजसनेयसंहितोपनिषद् पहिली है जिसको अनेक लोग ईशावास्य नामसे भी बोलते हैं। यह वाजसनेयी उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की संहिता के अन्तर्गत समझी जाती है। यजुर्वेद में ४० चालीश अध्याय हैं इन में से ३९ उनतालीश अध्याय के द्वारा मुख्य कर कर्मकाण्ड कहा गया है सो यथोक्त कर्म के अनुष्ठान से जिस का अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, इन चार साधनों से युक्त (शम-काम क्रोधादि की शान्ति वा सुख दुःख स्तुति निन्दा आदि से व्याकुल न होना। दम-इन्द्रियों के राजा मन को अपने वश में रखना। तितिक्षा-सहनशीलता। उपरति-संसारी फल भोगों से वैराग्य) जिस ने गृहस्थादि आश्रमों के सुख भोग लिये हों तथा ऋषि, वेद और पितृसम्बन्धी तीनों ऋण तीन आश्रमों के यथावत् अनुष्ठान से चुका दिये हों, इस लोक वा परलोक के सुख भोग की तृष्णा जिस को न रही हो अर्थात् विषय के सुख भोग से वैराग्य हो गया हो ऐसे फलाकांक्षा रहित वैदिक कर्म करने वाले ब्रह्मज्ञान की इच्छा से युक्त मुमुक्षु पुरुष के लिये १७ मन्त्र वाले वाजसनेय नामक एक ४० चालीशवें अध्याय से ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी ज्ञानकाण्ड को कहते हैं (ईशावास्यम्०) इत्यादि मन्त्रों का कर्मकाण्ड में विनियोग नहीं है क्योंकि कर्मसे संबन्ध न रखने वाले आत्म वस्तु के शुद्ध स्वरूप के प्रकाशक वे मन्त्र हैं। तथा एक नित्य और अपाप विद्ध होना आगे कहा आत्मा का स्वरूप है। और कर्मकाण्ड में आत्मा का कर्त्ता भोक्ता तथा संस्कार करने योग्य होना मानकर लौकिक स्त्री अन्न पान ऐश्वर्य राज्यादि तथा पारलौकिक स्वर्ग भोगादि फल चाहने वाले के लिये यज्ञादि कर्म कहे गये हैं। उन कर्तृत्वादि का होना शुद्धात्मा में असंभव होने से कर्मकाण्ड में उन मन्त्रों का विनियोग होना युक्त नहीं है। सब अनर्थरूप दुःखों का मूल अविद्या ही है। उस अविद्यान्धकार का नाश करने के लिये मूल वेदान्त विद्या उपनिषद् रूप है॥ इति॥

अथ वाजसनेयसंहितोपनिषदारम्भः ॥

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईशा। वास्यम्। इदम्। सर्वम्। यत्। किम्। च। जगत्याम्। जगत्। तेन। त्यक्तेन। भुञ्जीथाः। मा। गृधः। कस्य स्वित्। धनम् ॥१॥

अन्वितोऽर्थः—यत् किञ्च (यत्किमपि) जगत्याम् (पृथिव्याम्) जगत्—[चलनात्मकं स्वरूपतो न्यूनाधिक्येन वर्त्तमानं प्रत्यक्षं घटाद्यात्मकमप्रत्यक्षमनुमानगम्यं परमाण्वाकाशमनोबुद्ध्याद्यात्मकम्] अस्ति तादिदम् सर्वम् (कार्यकारणरूपेणोभयात्मकम्) ईशा—(यस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं तेन भगवता) वास्यम्—आच्छादयितुं योग्यमर्थाद्यथा कटकादिरूपं कल्पितमध्यस्तमज्ञानं सुवर्णमेवेदमिति तत्त्वज्ञानेनाच्छादनीयं यथा वा मृदि कल्पितघटपटादिकमज्ञानं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति तत्त्वज्ञानेनाच्छादनीयमेवं सच्चिदानन्दात्मके विष्णौ प्रकल्पितमसत्सर्वं जगतोऽज्ञानं परमात्मभावनयाच्छादनीयं तिरस्कार्यम्। तेन (ईशा परमात्मना) त्यक्तेन—(प्रारब्धकर्मानुसारतो दत्तेन न्यायतोऽनपेतेनान्नादिना) भुञ्जीथाः—(भृत्यविभागपूर्वकमविरोधेन भुङ्क्ष्व) एकः स्वादु न भुञ्जीतेति स्मृतेः। मा गृधः कस्य स्विद्धनम्—(कस्य चिदन्यस्यान्यायतो धनादिपदार्थं माकाङ्क्षीः। यद्वा तेनेशा जगदुत्पत्त्यादि कर्म कुर्वताऽपि त्यक्तेन तन्नित्यत्वादिधर्मापेतेन जगता त्वं भुञ्जीथाः कार्यं कर्म कुर्वन्नपि तत्फलानि मा गृधः, तत्फलेष्वासक्तिं मा कुरु। इदं च मुक्तेः परमं साधनम्। कुतः—धनं कस्य स्वित्, न कस्यापि किन्तु यस्य यस्य सनीड आगच्छति स स मुधैव स्वत्वेनाभिमन्यते। यद्वा तेन त्यक्तेन जगति व्याप्तेनापि नश्वरत्वादिजगद्धर्मालिप्तेनार्थाद्दुःखाद्यात्मके जगति वर्तमानेना-

पि दुःखविमुक्तेनेशा सह तदभिमुखस्त्वं भुञ्जीथाः कार्यं कर्म पालयेथाः, मा गृधः तृष्णाविशेषं मा कुरु। कस्य स्विद्धनं सर्वाध्यक्षस्य कस्य चिदेकस्य ईश्वरस्यैव धनमास्ति न तु सर्वस्य, अतस्त्वं धनादिविषयां संसारसुखभोगतृष्णां विहायेश्वरज्ञानोपासनादिकर्माणि द्वन्द्वमोहराहित्येन कुर्वन् निःश्रेयसमाप्नुहि यदा च भगवानेवास्ति नेदं कल्पितं जगदिति तत्त्वज्ञाने सति तेन हेतुना सर्वासज्जगतस्त्यक्तेन त्यागेन सर्वं त्यक्त्वोदासीनो विरक्तः सन्नवशिष्टं प्रारब्धं कर्म देहावधि भुञ्जीथाः स्वस्यान्यस्य वा कस्यापि धनं मा गृधः। तृष्णां छिन्धीति मुख्योर्थः॥

भाषार्थः-(यत्, किम्, च) जो कुछ (जगत्याम्) पृथ्वी पर (जगत्) अपने स्वरूपसे कम बढ होने वाला स्वभावसे चलायमान घट आदि प्रत्यक्ष और अनुमान से जानने योग्य परमाणु आकाश मन बुद्धि आदि परोक्ष जगत् है वह (इदम्) सूक्ष्म स्थूल यह सभी (सर्वम्) कार्यकारण दोनों रूप जगत् (ईशा) जिसकी बराबर वा जिससे अधिक ऐश्वर्यवाला कोई नहीं उस परमेश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य है। अर्थात् जैसे सुवर्ण में कडादि की कल्पनारूप अज्ञान को यह सब सुवर्ण ही है कडा कुछ नहीं ऐसे तत्त्व ज्ञान से आच्छादन नाम दबाना चाहिये। अथवा जैसे मट्टी में कल्पित विकारमात्र नाम रूपात्मक घटपटादि रूप अज्ञान को एक मट्टी ही सत्य है ऐसे तत्त्वज्ञान से दबा देना चाहिये। वैसे ही सच्चिदानन्दरूप विष्णु भगवान् में कल्पित सब असत् जगत् का अज्ञान सबमें परमात्माकी भावना से दबा देना वा नष्ट कर देना चाहिये। (तेन) उस परमेश्वर ने (त्यक्तेन) प्रारब्ध कर्मानुसार दिये न्याय से युक्त स्वकीय अन्नादि से (भुञ्जीथाः) स्त्री पुत्रादि को अविरोध पूर्वक विभाग देकर तू फल भोग कर [महाभारत में लिखा भी है कि एक मनुष्य स्वादु भोजन अपने आप ही न करले किन्तु अपने आश्रितों को भाग देकर स्वयं भोगै] (कस्य, स्वित्) अन्याय से किसी दूसरे के (धनम्) धनादि पदार्थ की (मा, गृधः) कांक्षा मत कर। अथवा जगत् की उत्पत्ति आदि कर्म करते हुए भी (तेन) उस ईश्वर से (त्यक्तेन) ईश्वर के नित्यत्व आदि धर्म से पृथक् हुए नाशवान् अनित्य जगत् के साथ (भुञ्जीथाः) भोगमात्र कर किन्तु कर्त्तव्य कर्म करता हुआ भी (मा, गृधः) कर्म फल भोग की आकांक्षा मत कर यही मुक्ति का परम साधन है क्योंकि संसार में

धनादि पदार्थ किस का है ? किन्तु किसी का नहीं। जिस २ के समीप धनादि पदार्थ आता है वह २ अपना मान के मिथ्या अभिमान करता है। अथवा (तेन, त्यक्तेन) जगत् में व्याप्त हुए भी नाशवान् होना आदि जगत् के धर्म से पृथक् वर्त्तमान अर्थात् दुःखादिरूप जगत् के साथ वर्त्तमान हुए भी सब दुःखों से विमुक्त उस उक्त ईश्वर के साथ (उस को सन्मुख मान के) (भुञ्जीथाः) कर्त्तव्य कल्याणकारी कर्मों की रक्षा कर (मा, गृधः) अधिक तृष्णा मत कर क्योंकि (कस्य, स्विद्धनम्) धनादि पदार्थ किसी एक सर्वाध्यक्ष ईश्वर का है किन्तु सब का नहीं है इसलिये हे मनुष्य तू धनादि पदार्थ सम्बन्धी संसारी सुखभोग की तृष्णाको छोड के निन्दा स्तुति आदि द्वन्द्व और शोकमोहादि को त्याग ईश्वर का ज्ञान और उपासनादि कर्म करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होने का उपाय कर। जब कि सर्वत्र परिपूर्ण एक भगवान्ही हैं किन्तु यह कल्पित जगत् जलसे भिन्न जल तरंगों के तुल्य कुछ भी नहीं है ऐसा तत्त्वज्ञान दृढ हो जाने पर (तेन) उसी कारण सब असत् जगत् को (त्यक्तेन) त्याग के उदासीन हुआ पूर्व के शेष प्रारब्ध कर्म का शरीर छूटने पर्यन्त (भुञ्जीथाः) भोगकर (कस्य स्विद्धनं मा गृधः) अपने वा अन्य किसी के धन की तृष्णा मतकर अर्थात् तृष्णा को छोड परम त्यागी पूरा विरक्त हो जा यही मुख्य अर्थ वा अभिप्राय है ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे २

कुर्वन्। एव। इह। कर्म्माणि। जिजीविषेत्। शतम्। समाः। एवम्। त्वयि। न। अन्यथा। इतः। अस्ति। न। कर्म्म। लिप्यते। नरे ॥२॥

ईशावास्यमिदꣳसर्वमित्यस्य सम्यक्तत्त्वं ज्ञातुमशक्तो मध्य कोटिस्थः श्रद्धालुः किंकुर्यादित्युच्यते। इह (अस्मिन् संसारे मनुष्यजन्मनि वा) कर्माणि (कर्तुंयोग्यानि धर्म्याण्यग्निहोत्रादीनि नित्यनैमित्तिकभेदभिन्नानि वेदादिसच्छास्त्रप्रतिपादितानि विधि निषेधमुखपराणि निःश्रेयसहेतूनि)कुर्वन्नेव शतंसमाः(जीवेम शरदः शतमित्यादि वेदप्रामाण्यान्मनुष्यस्यायुषःसामान्येन शतं वर्षाण्य वधिः।अतः शतं वर्षाणि)जिजीविषेत् (जीवितुमिच्छेत्) यो हि जीवितु

मिच्छति तदर्थोऽयमनुवादः, यो जिजीविषेत्स शतं वर्षाणि कर्म्म कुर्वन्नेव जिजीविषेत्। एवम् (उक्तप्रकारेण निष्काम्यं कर्म कुर्वन् जिजीविषति) त्वयि नरे (मनुष्ये) कर्म्म न लिप्यते (असारसंसार सागरसंसरणहेतुकं न भवतीतिभावः) इतः (उक्तप्रकारात्) अन्यथा (अन्यःप्रकारःकर्मालेपरस्य) न (नास्ति) अर्थाल्लौकिकफलभोगाकाङ्क्षया कर्म्माणि कुर्वंस्तु लिप्यत एव। यथा यावज्जीवं स्वभावसिद्धानि प्राणयात्रापराणि दर्शनादीनि कर्म्माणि ज्ञानिभिरपि क्रियन्त एव। एवं तैर्यथाधिकारं यथाकालं यथादेशं यथावेषं यथा वस्थं च कार्यं कर्म कर्त्तव्यमेव। स्मृतं च "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन इति। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। इति च" मध्यमसंन्यासिनां च स एव संन्यासो यत्कर्म फलानां समन्ताद्दृष्टानुश्रविकविषयभेदेन त्यागः। उक्तञ्च—"अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः,, तस्मात्कर्माणि कुर्वन्नेव स मध्यमो जनो जिजीविषेत्, न त्वालस्याभ्यारूढो नैष्कर्म्यमापन्नो जिजीविषेदिति। एवं सोऽपि क्रमेण निःश्रेयसमधिगच्छति ॥२॥

भाषार्थः-(ईशावास्यमिदं सर्वम्) इत्यादिका सम्यक् तत्व जाननेमें असमर्थ मध्यकोटिस्थ जिज्ञासु श्रद्धालु क्या करे सो कहते हैं (इह) इस संसार वा मनुष्यजन्म में (कर्म्माणि) वेदादि सत्यशास्त्रों में कहे अच्छे का विधान और बुरे का त्यागरूप नित्यनैमित्तिक भेद से दो प्रकार के करने योग्य धर्मयुक्त मुक्ति के हेतु कर्म्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं, समाः) सौ वर्ष पर्य्यन्त (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे क्योंकि (जीवेम शरदःशतम्) इत्यादि वेदप्रमाणों से मनुष्य की अवस्था सौ वर्ष की ही सामान्य कर पाई जाती है, जो पुरुष जीवन की इच्छा रखता है उसके लिये यह अनुवाद रूप कथन है, विधि नहीं, कि जो जीवन चाहता हो वह सौ वर्ष मरणावधि कर्म करता हुआ ही जीवनेच्छा करे। (एवम्)इस उक्त प्रकार से संसारी फल भोग की इच्छा रहित कर्म करते हुए (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) उक्त वैदिक कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता अर्थात् असार संसाररूप सागर के जन्ममरणादिरूप प्रवाह

में बहाने वाला नहीं होता (इतः) इस उक्त प्रकार से भिन्न (अन्यथा) अन्य कोई प्रकार कर्म में लिप्त न होने के लिये (न) नहीं है। अर्थात् लौकिक फल भोग की अभिलाषा से कर्म करता हुआ तो लिप्त होता ही है किन्तु संसारी फलभोग से विरक्त हो कर कर्त्तव्य वैदिक कर्मों के करने से ही मुक्ति का अधिकारी हो सकता और वैदिक कर्म करने से ही सौ वर्ष का आयु हो सकता है। जैसे जन्म पर्यन्त भोजन आदि स्वाभाविक कर्मों को ज्ञानी लोग भी करते हैं वैसे उन मध्यम ज्ञानि जनों को योग्य है कि सामर्थ्य, देश काल अवस्था और वेप के अनुकूल कर्त्तव्य कर्मों को अवश्य किया करें। भगवद्गीता में कहा भी है कि (कर्मण्येव०) तेरा सामर्थ्य कर्म करने में ही रहे किन्तु फल भोग की अभिलाषा न रहे क्योंकि राजा जनकादि भी कर्म करने से ही परमसिद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। संन्यासियों का भी संन्यास यही है कि जो इस लोक वा परलोक के सुखभोगों का त्याग अर्थात् उन से विरक्त होना। कहा भी है कि कर्मफल का आश्रय न कर के जो कर्त्तव्य वैदिक कर्म को करता है वही संन्यासी और योगी कहाने योग्य है किन्तु निकम्मा आलसी जन संन्यासी नहीं हो सकता। इस से यह आया कि कर्मों को करता हुआ ही वह मध्यम जिज्ञासु जीवन की इच्छा करे किन्तु आलस्य रूप घोडे पर चढा निकम्मा हो कर न रहे। ऐसा करने से वह भी क्रम से परम पद को प्राप्त हो जाता है॥ २॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्तेप्रेत्याभिगच्छन्तियेकेचात्महनोजनाः३

असुर्य्याः। नाम। ते।लोकाः। अन्धेन। तमसा। आवृताः। तान्। ते। प्रेत्य। अभि। गच्छन्ति। ये। के। च। आत्महनः। जनाः॥३॥

इदानीमस्मात्स्त्र्यन्नपानैश्वर्य्ययौवनप्रभुत्वराज्यादिजन्यदृष्टसुखात्परं पारमार्थिकमात्मज्ञानानुभूतमव्याहतं सुखं ये न मन्यन्ते न वा जानन्ति तदर्थं वा न प्रयतन्ते तेषामनिष्टफलवादरूपा निन्दोच्यते। उक्तंच भगवद्गीतासु=

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

अ०--(ये के च) ये के चित् (आत्महनः) कामक्रोधादि वशानुगतयाऽविद्यादिदोषेण वा तिरस्करणात् सर्वाध्यक्षं पितृवदुत्पाद्य पालकं शुद्धं सनातनमात्मानं घ्नन्ति तद्विमुखा भवन्त्यतएव कृतघ्नत्वादिदोषदूषिताः सन्तः (अन्धेन तमसाऽऽवृताः) अदर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसा ग्लानिकारकेणानन्दबाधकेनावृता आच्छादिताः (ते नाम) प्रसिद्धौ (जना असुर्याः) असुषु प्राणेषु तत्पोषणादिव्यवहारएव रममाणास्तेषामिमे स्वे सम्बन्धिनस्तदन्तर्गताः (लोकाः) कर्मफलानिलोक्यमानाः फलभोगोत्सुकाः सन्ति। (ते च प्रेत्य) शरीरं त्यक्त्वा (तान्) असुरसम्बन्धिनः स्थावरान्तान् देहान् (अभिगच्छन्ति) निश्चयेन प्राप्नुवन्ति सर्वासु योनिषु जन्ममरणादिप्रवाहे भ्रमन्ति। आत्मज्ञानप्लवेनैकेनैव साधनेन सन्तरन्तीति मत्वाऽऽत्मज्ञानोपायं न कुर्वन्ति। यथा कोऽपि सुवर्णं विस्मृत्य कल्पितमसत्कुण्डादिकं पृथगेव मन्येतायमेव सद्वस्तुनस्तिरस्कारो हननं वा तथैव सच्चिदानन्दरूपेण सर्ववस्तुषु विद्यमानमजरमभयममरमात्मानं विस्मृत्य हत्वाऽसत्पदार्थान्नाम रूपकल्पनामात्रान्स्वतन्त्रान्पृथगेव मन्यमाना आत्महनः। यदस्ति तन्न मन्यन्ते यन्नास्ति तदेव मन्यन्तइत्यात्महनः ॥ ३ ॥

भाषार्थः--अब तृतीय मन्त्र में जो इस स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्यभोग, युवावस्था, प्रभुता और राज्यादि से होने वाले प्रत्यक्ष सुख से परे आत्मज्ञान से अनुभव में आनेवाले परमार्थ सम्बन्धी अखण्डित सुख को नहीं मानते वा उस को नहीं जानते अथवा उस की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करते उन को अनिष्ट फल दुःख प्राप्त होता ही है यह दिखाते हैं (भगवद्गीतामें भी कहा है कि जो भोग और ऐश्वर्य के मद में आसक्त हो रहे हैं और स्त्री आदि सम्बन्धी विषयों में जिन का चित्त अत्यन्त फंसा हुआ है अर्थात् विषय वा धनादि के भोग में जिन की बुद्धि निश्चित हो रही है वे समाधि के योग्य नहीं हो सकते) (ये, के, च,) जो कोई (आत्महनः) कामक्रोधादि के वश में होने से वा अविद्यादि दोषों से पिता के तुल्य पालन करने वाले सबके स्वामी शुद्ध सनातन परमेश्वर को भूलजाना रूप

हिंसा करते अर्थात् उस से विमुख होते हैं इसी से कृतघ्नता दोषसे दूषित हुए (अन्धेन) जिस में कुछ न जान पडे ऐसे अज्ञानरूप (तमसा) आनन्द के नाशक ग्लानि के हेतु तमोगुण से (आवृताः) आच्छादित हुए (ते) वे (नाम) प्रसिद्ध (असुर्य्याः) प्राणों के पुष्ट करने आदि व्यवहार ही में रमने वाले असुरों के सम्बन्धी वा असुरों में परिगणित (लोकाः) कर्म फल भोग को ही देखने वाले (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे भी (प्रेत्य) वर्तमान शरीर छोड के(तान्) असुरसंम्बन्धी योनियों को (अभि,गच्छन्ति,) प्राप्त होते अर्थात् सब योनियांमें जन्ममरणादि प्रवाह से निरन्तर भ्रमते हैं। औरइस प्रवाह से निकलने के लिये आत्मज्ञानरूप एक ही नौका है ऐसा मान कर आत्मज्ञान का उपाय नहीं करते। जैसे कोई असल वस्तु सुवर्णको भूल कर कल्पित कुण्डलादिको पृथक् स्वतन्त्रही माने यही सद्वस्तु का तिरस्कार वा हनन है। वैसे ही सत् चित् आनन्द रूपोंसे सबमें विद्यमान अजर अमर अभय नित्य पवित्र आत्मा को भूलकर असत्अनित्य अपवित्र कल्पित नाम रूप मात्र पदार्थों को स्वतन्त्र पृथक् ही मानते हुए आत्म हत्यारे हैं। अर्थात् जो वास्तव में है उसे नहीं मानते और जो नहीं है उसी को मानते हैं वेही आत्महन हैं ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्। तद्धावतो अन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अनेजत् । एकम् । मनसः । जवीयः । न । एनत् । देवाः । आप्नुवन् । पूर्वम् । अर्षत् । तत् । धावतः । अन्यान् । अत्येति । तिष्ठत् । तस्मिन् । अपः । मातरिश्वा । दधाति ॥ ४ ॥

अन्वयः--अतः पूर्वस्मिन् मन्त्रे ये के चात्महनो जना इत्युक्तम् । तदात्मतत्वं कीदृशमित्युच्यते । यद् ब्रह्म मनसो जवीयः (भौतिकेन्द्रियाणामधिष्ठातृ मनो विषयावधि गतिमत्-ब्रह्म तु विषयातिक्रान्तं यत्र मनसो गतिरपि नास्ति तत्रापि विद्यत एवेति भावः । कस्यचिद्विषयस्य सुस्मूर्षया सहस्रं क्रोशान् मनः सद्यस्तरां गच्छति यावता कालेन मनस्तत्र गच्छति ततः प-

रमपि ब्रह्म पूर्वत एव स्थितं सर्वव्यापित्वादिति मनसो जवीयस्त्वं ब्रह्मणः) तत्--एकं (अद्वितीयम्) अतएवानेजत् (एजनं कम्पः स तु सोपाधिकस्य धर्मो यस्तु कम्परहितो निरुपाधिकः स इति निश्चीयते। अथ चानेजन्निर्भयम्। द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुतेर्न तद्भिन्नोऽन्यः कश्चिदस्ति तस्यैव सर्वरूपत्वादिति लोके यदतिवेगवद्वस्तु तस्य क्रियावत्त्वादकम्पनं विरुद्धम्। ब्रह्मतु जवीयस्त्वेप्यकम्पं कूटस्थमिति। अनेजज्जवीयश्चेति विशेषणद्वयेन विरोधालङ्कारो भासत इति) एनत् (मनोगतिमतिक्रान्तमत एव) देवाः (विषयद्योतकानीन्द्रियाणि) नाप्नुवन् (न प्राप्नुवन्ति। स्वस्वविषयग्राहकत्वं तत्तदिन्द्रियत्वं न कश्चिद्भौतिको विषय आत्मा यमिन्द्रियाण्याप्नुयुरिति) यद्यपि पूर्वमर्षत् (इन्द्रियविषयादिषु पूर्वत एव व्योमवद्व्याप्त आत्मा तथापीन्द्रियाविषयोऽतः श्रोत्रेण रूपग्रहणवत्तैर्न गृह्यते) तत् तिष्ठत् (गतिनिवृत्तम्) धावतोऽन्यान् (स्वस्वविषयान् प्रति पततो मनोवागिन्द्रियादीनात्मविलक्षणान्) अत्येति--उल्लङ्घ्य परम्परं गच्छतीव न कश्चिदिन्द्रियादिसाधनैर्ब्रह्म प्राप्तुमर्हतीति भावः (तस्मिन्--(ब्रह्माणि सत्येव तस्य सत्तायां सत्यामेव) मातरिश्वा (वायुः) अपः जलानि मेघादिरूपाणि दधाति--धारयति- आत्मसत्ता बलीयसी। अथवा तस्मिन्सत्येव मातरिश्वा वायुर्देहेन्द्रियादिष्वपः कर्माणि दधाति। सूत्रात्मको वायुरपि ब्राह्मीं सत्तामन्तरेण चेष्टाहेतुर्भवितुमशक्त इति। अथवा तस्मिन्सत्येव मातरिश्वा प्राणो नाम वायुरपः कर्माणि--ऊर्ध्वगमनादीनि धारयति। स उ प्राणस्य प्राण इति प्रामाण्यादात्मसत्तामन्तरा प्राणोऽपि स्व चेष्टां कर्त्तुमक्षम इति। अथवा तस्मिन्परमात्मनि सत्येव मातृस्थ उदरे गर्भाशये श्वयति वर्द्धते श्वसितीति वा मातरिश्वा जीवात्माऽपः कर्माणि दधाति। यथा तैजसांशं चक्षुः सौरादिप्रकाशान्तरसत्तयैव रूपं पश्यत्येवं भगवदंशरूपा वाय्वादयो भ-

गवति सत्येव चेष्टां कर्त्तुं शक्नुवन्तियभादस्याग्निस्तपाति भयात्त-पातिसूर्यः । भयादिन्द्रश्चवायुश्च मृत्युर्धावतिपञ्चम इत्यादिश्रुतौ यदुक्तं तदेवात्र तस्मिन्नपो मातरिश्वादधातीत्यनेनोच्यते। सर्व-माकाशादिकं परमात्मसत्तयैव स्वस्वकार्यसाधकं सम्पद्यते पर-मात्मनएव सर्वमूलत्वात् ॥

भाषार्थः—इस से पूर्व तृतीय मन्त्र में आत्मघाती जनों की दुर्दशा दिखायी है सो वह आत्मतत्व कैसा है यह दिखाते हैं जो ब्रह्म (मनसः) भौतिक इन्द्रियों का राजा विषयों तक पहुंच ने वाला है उस मन से भी (जवीयः) अत्यन्त वेग वाला अर्थात् जहां मन की गति भी नहीं वहां परब्रह्म पहिलेसे ही विद्यमान है । किसी विषय के स्मरण की इच्छा से मन हजारों कोश पर अति-शीघ्र पहुंचता है जब तक मन वहां पहुंचता है तिस से भी पहिले आत्मा आगे असंख्य कोशों तक व्यापक होने से विद्यमान है इस कारण मन से भी आत्मा अति वेगवान् है। (एकम्) वह ब्रह्म-एक अद्वितीय है (अनेजत्) कांपना चलायमान होना सोपाधिक का धर्म है उस कम्पन से वह रहित है इस लिये वह वस्तुतः निरु-पाधिक है अथवा एक होने से सर्वथा निर्भय है क्योंकि सदा ही दूसरे से भय होता है जब उस से भिन्न कोई वस्तु ही नहीं कि जि-स से भय हो इसलिये वही एक सर्व रूप निर्भय है । परमात्मा लौकिक पदार्थों से विलक्षण है लोकमें जो अति वेगवान् वस्तु है वह क्रियागुण से युक्त होने के कारण कम्पन और विकार वा-ला होता है और ईश्वर अति वेगवान् होने पर भी कम्पन और विकार वाला नहीं होता अतिवेगवान् और कम्पन इन दो विशेषणों से विरोधालङ्कार प्रतीत होता है। (एनत्) मन की गति को उल्लं-घन करने वाला होने से उस को (देवाः) विषयों का बोध कराने वाले इन्द्रिय (न, आप्नुवन्) नहीं प्राप्त हो सकते । अपने २ गन्धा दि विषय को ग्रहण करना उस २ इन्द्रिय का इन्द्रियपन है आत्मा किसी इन्द्रिय का ग्राह्य विषय नहीं है जिस को इन्द्रिय प्राप्त हो सकें। यद्यपि (पूर्वम्, अर्षत्) इन्द्रिय और विषयादि में आत्मा पहिले से ही आकाश के तुल्य व्यापक है तथापि इन्द्रियों का वि-षय न होने से कान से रूप के समान इन्द्रियों से नहीं गृहीत हो-ता । वह (तिष्ठत्) अचल ब्रह्म (धावतः) अपने २ विषयों की

ओर भागते हुए (अन्यान्) मन वाणी तथा आत्मा से विलक्षण इन्द्रियों को (अत्येति) उलङ्घ कर आगे २ चलता है अर्थात् इन्द्रियादि साधनों से कोई ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता। (तस्मिन्) उस ब्रह्म की सत्ता होने पर ही (मातरिश्वा) वायु (अपः) मेघादि रूप जलों को (दधाति) धारण करता है अर्थात् परमेश्वर की सत्ता सब से बलवती है। अथवा उस आत्मा की सत्ता से ही सूत्रात्मा वायु देह और इन्द्रियादि में कर्मों को धारण करता है अर्थात् ईश्वर की सत्ता के विना सूत्रात्मा वायु भी अपना चेष्टा रूप कर्म कराने में असमर्थ है। अथवा उस ईश्वर की सत्ता से ही प्राण वायु ऊपर को चलना आदि कर्मों को धारण करता है। "वह प्राण का भी प्राण है ,, ऐसा कहने से ईश्वर की सत्ता के विना प्राण भी अपना काम नहीं दे सकता। अथवा उस की सत्ता से ही माताके उदर में बढने वा श्वास लेने वाला जीवात्मा कर्मों को प्राप्त होता है। जैसे तैजसांश चक्षु सूर्यादि के प्रकाशान्तरकी सत्तासे ही रूपको देख सकता है। वैसेही भगवान् के अंश रूप वायु आदि भगवान्‌की सत्ता से चेष्टादि करसकते हैं। अन्यत्र श्रुतिमें कहा है कि अग्नि सूर्य इन्द्र वायु मृत्यु ये सब भगवान् के ही मूल रूप प्रकाशादि अंशसे अपना २ प्रकाशादि काम नियम से करते हैं। नियन्ता वही एक भगवान् है यही बात यहां (तस्मिन्नपोमातरिश्वादधाति) से कहीहै कि सब आकाशादि परमात्माकी सत्ता सेही अपने २ कार्य के साधक होते हैं क्योंकि परमात्मा ही सबकामूलबीजरूप है ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्यबाह्यतः ॥५॥

तत्। एजति। तत्। न। एजति। तत्। दूरे। तत्। उ। अन्तिके। तत्। अन्तः। अस्य। सर्वस्य। तत्। उ। सर्वस्य। अस्य। बाह्यतः ॥५॥

अन्वयः--तत्--(प्रकृतत्वात्परमात्मरूपं ब्रह्म) एजति--(चलतीव, एकत्र दृष्टस्य वस्त्वन्तरेपि स्थितिमतो दर्शनादविदुषां मतेऽचलदपि चलतीव) स्वरूपतस्तु न--एजति--(नैव चलीत। अनेजदिति विशेषणेन पूर्वमन्त्रे प्रतिपादनात्) तत्--(ब्रह्म) दूरे--(विषयासक्तैर्जन्मसहस्रेणाप्यप्राप्यम्) तत

(ब्रह्म) दूरे—(विषयासक्तैर्जन्मसहस्त्रेणाप्यप्राप्यम्) तत् अन्तिके (दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णानां तन्निष्ठविदुषां भक्तवत्सलत्वेनातिनिकटेऽस्ति) तद्ब्रह्म—(अस्य सर्वस्य चराचरस्य जगतः) अन्तः—(व्याप्तमस्ति विद्वांसो ज्ञानिनस्तदात्मरूपाएव) तदु अस्य सर्वस्य बाह्यतः—(उ इति वितर्के यदान्तरीयां स्थितिमापन्नो भवति न तद् बाह्येस्थितिमुपलभत इति लोके दृष्टचरमेव ब्रह्म तु तद्विरुद्धमिति उशब्देन द्योत्यते। व्यापकत्वान्निरवयवत्वान्निराकारत्वात्सर्वस्य बाह्यमाभ्यन्तरं च व्याप्तमिति भावः ॥५॥

भावार्थः—(तत्) वह पूर्वोक्त परमात्मा (एजति) एक पदार्थ में देख के पदार्थान्तर में भी स्थित दीख पडने से अचल एक रस भी ब्रह्म अविद्वानों को चलायमान सा प्रतीत होताहै। अर्थात् अविद्वान् लोग जानते और कहते भी हैं कि ईश्वर जब सृष्टिरचना आदि करता है तो वह चलता फिरता भी होगा और वस्तुतः (न एजति) नहीं चलायमान होता सो पूर्व मन्त्र में भी कहा है। (तत्) वह परमेश्वर (दूरे) विषयासक्त मनुष्यों से बहुत दूर है अर्थात् हजारों जन्म में भी वे ईश्वर को प्राप्त नहीं हो सकते। (तत्)वह (उ, अन्तिके) इस लोक वा परलोक के सुखभोगों की तृष्णा से रहित उसी में निष्ठा रखनेवाले विद्वानों के अतिनिकट है क्योंकि वह भक्तों पर कृपा करता है ज्ञानी विद्वान् उसके आत्म रूप होते हैं (तत्) वह (अस्य, सर्वस्य) इस सब चराचर जगत् के (अन्तः) बीच में व्याप्तहै (उ) और (तत्)वह (अस्य,सर्वस्य) इस सब जगत् के बाहर भी है। लोक में यह प्रसिद्ध है कि जो पदार्थ किसी के भीतर है वह बाहर नहीं रहता। प्रत्यक्ष ईश्वर इससे विलक्षण है। व्यापक निरवयव और निराकार होने से सब पदार्थों के बाहर भीतर आकाशवत् व्याप्त है ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

यः। तु। सर्वाणि। भूतानि। आत्मन्। एव। अनु। पश्यति। सर्वभूतेषु। च। आत्मानम्। ततः। न। विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

अन्वयः—पुनरात्मानं कीदृशं पश्येदित्युच्यते यस्तु (शमद-

मादिसाधितसाधनः) सर्वाणि भूतानि=(उद्भूतानि चराचराणि विश्वानि) आत्मन् एव-(परमात्मन्येव)अनुपश्यति-(अनुगतं पश्यति)सर्वभूतेषु च=(अव्यक्तादिमहास्थूलावधिषु च) आत्मानमीश्वरंस्वीयमेकरूपमनुपश्यति--(सर्वस्य द्रष्टाहमत्र साक्षीत्यनुजानाति) ततः—एकस्यैव सर्वत्र दर्शनात्(न विजुगुप्सते) जुगुप्सां घृणां न करोति"सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः,, इति मनुवचनात्। स्वस्य स्वामिनो मान्यस्य वाग्रे न कोप्यधर्माचरणं कर्त्तुमुत्सहत इति लौकिका अपि जानन्ति ब्रुवन्ति च। एवं यःस्वस्वामिनं सर्वत्र व्योमवद्व्याप्तं सर्वस्य द्रष्टारं जानीयान्नैव स स्वामिनोऽग्रे निन्दितमाचरितुमर्हति। यस्य किमप्याचरणं कस्य चिद्भयाद्गुप्तं न भवत्येतदेव सर्वत्रात्मानं पश्यतो लिङ्गम्। यश्च शुभाशुभकर्मफलदाता स तु सर्वत्र पश्यति सर्वं,पुनःकस्मात् किं गोप्यम् ॥

यदेकएवात्मा सर्वभूताशयस्थितः(एकएवाहि भूतात्मा भूते-भूतेव्यवस्थितः) सएव चाहमिति पदवाच्यस्तदा सर्वाणि भूतानि मय्येवात्मनीति योऽनुपश्यति सर्वभूतेषु चाहमेवात्मेति च पश्यन्नवधारयन्न कुतोऽपि भयं लज्जां शङ्कां ग्लानिं वा कुरुते भयादिकमन्यस्मादेव भवतीति प्रसिद्धम् ॥

भाषार्थः-फिर परमेश्वरको कैसा जाने सो कहते हैं (यः,तु) जो मनुष्य शान्ति और जितेन्द्रियतादि गुणयुक्त (सर्वाणि) सब (भूतानि) उत्पन्न हुए चराचर को (आत्मनि, एव) परमेश्वर में ही (अनु, पश्यति) अनुक्रम से व्याप्त देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सूक्ष्म से स्थूलपर्यन्त सब पदार्थों में (आत्मानम्) अपने आत्मस्वरूप ईश्वर को सब का द्रष्टा मैं ही सर्व का साक्षी हूं ऐसा (अनु, पश्यति) जानता मानता है। (ततः) एकही आत्मतत्त्व को सब में देखने से (न विजुगुप्सते) किसी से घृणा ग्लानि वा अनुचित पाप नहीं करता। मनुस्मृति में भी लिखा है कि "जो सब जगत् को अपने में देखता है वह अधर्म में मन कभी नहीं चला सकता"। अपने स्वामि वा किसी मान्य पुरुषके सामने ही जब कोई अधर्माचरण करने को प्रवृत्त नहीं होता यह लौकिक लोग भी जानते और कहते हैं तब इसीप्रकार जो पुरुष अपने स्वामी भगवान्‌को आकाशके तुल्य सर्वत्र व्याप्त सब कार्यों को देखनेवाला जानेगा वह अपने स्वामी

परमेश्वर के सामने निन्दित आचरण कैसे करेगा?। और ईश्वर को सर्वत्र देखने वाले का चिन्ह यही है कि जिसका कुछ भी आचरण अन्तःकरण से विरुद्ध. अर्थात् भीतर से भिन्न और बाहर से कुछ और न हो। क्योंकि वह मन को भी जानता है। जो ईश्वर शुभ अशुभ कर्मफलों का देने वाला है वह सब को सब जगह देखता है फिर जब सब का राजा ही भीतरी हालको जानता है तो किससे क्या छिपा सक्ता है?॥

भा०—जैसे उन २ घट आदि उपाधियोंके भेदसे भिन्न २ दीखता हुआ भी सब घर आदि में वा घटादि में एकही अखंड आकाश विद्यमान है वैसे एकही अखंड चेतनात्मा सब प्राणियों में स्थित है और वही आकाशवत् अखंड सब हम कहाता है ऐसे विचार से सब प्राणी मुझ अखंड आत्मा में हैं और सब में मैं ही एक आत्मा विद्यमान हूं ऐसा जानता मानता निश्चय करता हुआ ज्ञानी पुरुष अन्य किसी से विरोध लज्जा शंका भय आदि नहीं कर सक्ता क्योंकि भयादि अन्य से होने प्रसिद्ध हैं और अन्य कोई है ही नहीं॥ ६॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

यस्मिन्। सर्वाणि। भूतानि। आत्मा। एव। अभूत्। विजानतः। तत्र। कः। मोहः। कः। शोकः। एकत्वम्। अनुपश्यतः॥७॥

अन्वयः—(यस्मिन्) ज्ञानसूर्योदये भूतेभ्यो विरागे सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातसमाधिकाले (विजानतः) विशेषेण ज्ञानवतः पुरुषस्यैहिकसुखभोगात्माप्तवैराग्यस्य (सर्वाणि भूतानि) इष्टमित्रादिभेदभिन्नानिसुखदुःखहेतूनि (आत्मैवाभूत्) आत्मैव भवन्ति बाह्येन्द्रियैर्भूतानि पश्यन्नपि जलतरङ्गान् जलरूपाणीव, सर्ववस्त्राणि सूत्ररूपाणीव, सर्वान् प्राणिनः स्वात्मरूपानेव पश्यति। मनःसंयोगानपेक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षस्यापि ज्ञानकारणत्वाभावात्। यथा कस्यचिद्विषयस्य तत्त्वज्ञानार्थमुत्सुकः पुरुषस्तमेव विषयं सर्वत्र पश्यति सर्वाणि वस्तून्यभीष्टविषयरूपाण्येव पश्यति। तथैवात्मतत्त्वज्ञानोत्सुक आत्मरूपमेव सर्वमनुपश्यति नान्यत्पश्यति भगवत एव सर्वत्र दृश्यमानत्वात्। उक्तं च व्यासेन—"शय्यासनस्थोऽथ पथि

व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥,, एवमेकत्वमनुपश्यतो योगिनः (तत्र)आत्मतत्त्वज्ञानावसरे (को मोहः कः शोकः?) न कोपीत्यर्थः शोकमोहौ त्वभीष्टविषयभोगायोत्कण्ठापूर्वकं धावतस्तदप्राप्तौ प्राप्तावपि क्षीणाभिलाषस्य जायेते न तु तत्त्यक्तव्रतः। आत्मानंचेद्वि जानीयादयमस्मीतिपूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ इति श्रुत्यन्तरकथनमिहापि संगच्छते ॥ ७ ॥

भाषार्थः- (यस्मिन्) जिस समय ज्ञानसूर्य का उदय होने पर संसार से वैराग्य होकर सम्प्रज्ञात वा असम्प्रज्ञात समाधि हो तब (विजानतः) इस लोक परलोक के सुखभोग से वैराग्य को प्राप्त हुए पुरुष की दृष्टि में (सर्वाणि) सब (भूतानि) इष्ट मित्र शत्रु उदासीन आदि प्राणि (आत्मा, एव , अभूत्) आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् मन के आत्मज्ञान में लीन रहने से वाह्य इन्द्रियों से प्राणियों को देखता हुआ भी जल के तरंगों को जलरूप देखने के तुल्य वा सब वस्त्रों को सूतरूप देखने के तुल्य सब प्राणियों को एक आत्मरूप ही देखताहै क्योंकि मन के संयोग के विना वाह्य इन्द्रियों से कुछभी ज्ञान नहीं हो सक्ता। जैसे किसी विषयके ज्ञान का तत्त्व जानने के अर्थ उत्सुक हुआ पुरुष उसी विषय को सर्वत्र देखता है अर्थात् सब वस्तुओं को अभीष्ट विषयरूप ही देखता है। ऐसे ही आत्मा के तत्त्व ज्ञान में लवलीन हुआ पुरुष सबको आत्मरूप ही देखता है क्योंकि उसे एक भगवान् ही सर्वत्र दीखपडतेहैं। व्यास जी ने योगभाष्य में कहा भी है कि "खटिया वा आसन पर बैठा वा लेटा हो या मार्ग में चलता हो सब समय में भोगकी चंचलतासे स्वस्थ होकर उसी ईश्वर में जिसका चित्त लगा है वह सब तर्क वितर्कादि छोड के मुक्ति का भागी होता है इस प्रकार (तत्र) उस आत्मतत्त्व ज्ञान के समय में (एकत्वम्) एकही आत्मा को सर्वत्र देखते हुए योगी जन को(कः, मोहः) कौन अज्ञान और (कः, शोकः) कौन शोक हो सक्ता है? अर्थात् कोईनहीं। जो कोई अभीष्ट विषयभोगके लिए उत्कंठा पूर्वक भागता है और उसको वह विषयसुख प्राप्त न हो वा प्राप्त होने से अभिलाषा क्षीण हो जावे तब उस को शोक मोह होते हैं किन्तु जिस ने प्रथम से ही विषय सुखभोग की अभिलाषा त्याग दी उस को शोक मोह होने सम्भव नहीं हैं। एक अन्य श्रुति में कहाहै कि कोई देहधारी इतना जानले कि मैं यह वा ऐसाहूं अर्थात् यदि अपने आपको ठीक २ जानले तो संसार भर

के असंख्य शोक मोहादि दुःखों से छुट्टी पाजाता है। यही अभिप्राय इस सातवें मन्त्र में कहा जानो ॥ ७ ॥

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषीपरिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः। परि। अगात्। शुक्रम्। अकायम्। अव्रणम्। अस्नाविरम्। शुद्धम्। अपापविद्धम्। कविः। मनीषी। परिऽभूः। स्वयम्ऽभूः। याथातथ्यतः। अर्थान्। वि। अदधात्। शाश्वतीभ्यः। समाभ्यः ॥ ८ ॥

अन्वयः-(सः) यस्मिन् पूर्वोक्त आत्मनि ज्ञाते सति शोक मोहादयो विनिवर्त्तन्ते सः (पर्य्यगात्) परितो गतवान्स्वेन वास्तविकरूपेण सर्वत्र व्योमवद्व्याप्तः, किम्भूत आत्मेति विशेषणानि (शुक्रम्) शुक्रः। लिङ्गव्यत्ययः सर्वत्र, आशुकरोत्युत्पत्त्यादिकमिति शुक्रः। अथवा शुक्रः शुक्लो दीप्तिमान् (अकायम्) कायात्मकशरीरत्रिशेषरहितः (अव्रणम्) क्षतादिरहितः (अस्नाविरम्) नाड्यादिसम्बन्धवर्जितः। अतएवाकायत्वात् (शुद्धम्) निर्मलम्, कायवांस्तु द्वादशभिः शरीरमलैर्युक्तो भवति। उक्तं च वेद व्यासेन योगभाष्ये—

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निस्पन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥"

उक्तकारणादेव (अपापविद्धम्) पापफलैः सर्वदा वर्जितः। कायेनैव पापानुष्ठानसम्भवात् (कविः) सर्वदृक्, नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेति श्रुत्यन्तरम् (मनीषी) मनसोऽपीशिताऽध्यक्षः सर्वज्ञः (परिभूः) सर्वेषामुपरि भवतीति (स्वयम्भूः) स्वयमेव सर्गारम्भ मध्येमध्ये भूतानुग्रहार्थं वाऽवतारूपेण प्रकटो भवतीति स्वयम्भूः। एवम्भूतो नित्यमुक्त ईश्वरः। (समाभ्यः) संवत्सरैः परिमेयु-

ष्काभ्यः स्वद्रष्टॄं तुल्याभ्यो वा (शाश्वतीभ्यः)जातिरूपेण कल्पकल्पान्तरेषु प्रवाहरूपेण वा निरन्तरं वर्त्तमानाभ्यः प्रजाभ्यः (याथातथ्यतः) यादृशं यस्य कर्म तादृशान् (अर्थान्) फलरूपान् भोग्यान् पदार्थान् (व्यदधात्) विदधाति कर्मानुरूपं फलं सर्वस्मै प्रयच्छतीति, स वै शरीरी प्रथमइति श्रुतिवचः,सोऽभिध्याय-शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः,असंख्यामूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्तिशरीरतःइतिस्मृतिवचसी,इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणैर्भगवतः शरीरित्वं स्पष्टमत्र चाकायत्वेन शरीरनिषेधइति विरोधे समाधेयमित्थम् । शुभाशुभकर्मफलभोगाय कर्मसंचितमेव शरीरं कायपदवाच्यं तादृशं च शरीरं न भगवता कदापि धार्यतेऽपि तु दिव्यशरीरेण भगवान् ब्रह्मविष्णुरुद्राद्याकारशरीरवान् स्वयं भवतीति स्वयम्भूः। यदि कायपदं सर्वविधशरीरबोधकं चेत्तदाऽव्रणमस्नाविरमिति विशेषणद्वयमनर्थकं स्यात्, नहि शरीराभावे स्नाय्वादिसंभवः । तस्मादव्रणमस्नाविरमेव दिव्यं शरीरं भगवतो भवतीत्यनेनैव सूच्यते कर्मसंचिते च कायएव व्रणादिकं संभवति नतु दिव्यशरीरे योगरूढं च कायपदं चिञ्धातोर्घञि निष्पद्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थः—(सः) जिस पूर्वोक्त आत्मा का ज्ञान होने में शाक मोहादि निवृत्त होते हैं वह परमात्मा (परि, अगात्) अपने वास्तविक स्वरूप से आकाश के तुल्य सर्वत्र व्याप्त हो रहा है वह कैसा है कि (शुक्रम्) संसार को शीघ्र ही उत्पन्न करने वाला वा प्रकाशवान् (अकायम्) काय नामक खास शरीर से रहित (अव्रणम्) खोद वा छेद फोड़ा फुंसी रहित (अस्नाविरम्) नाडी नसों के बन्धन से रहित तथा काय रहित होने से ही (शुद्धम्) निर्मल है क्योंकि काया वाला बारह प्रकार के मलों से युक्त होता है ये बारह प्रकारके मल मनुस्मृतिके पञ्चमाध्याय में गिनाये हैं और योगशास्त्र में व्यासजी ने काय को ही अशुद्ध ठहराया है (स्थानात्) मलमूत्रादि सहित माता का उदर गर्भाशय इस काया की उत्पत्ति का स्थान है (बीजात्) इसका कारण उपादान माता पिता का रुधिर [आर्त्तव] और वीर्य है (उपष्टम्भात्) खाये पिये के रस से बढता (निस्पन्दात्) काया के छिद्रों से नित्यप्रति मल झरता है (निधनात्) मरजाने पर मुर्दा को अशुद्ध मानते और शास्त्रकार काया की नित्य

शुद्धि करने का विधान करते हैं यदि शुद्ध होता तो उस की नित्य शुद्धि क्यों कहते इन सब कारणों से विद्वान् लोग इस मानुष काया को विशेष कर अशुद्ध कहते हैं इस प्रकार की अशुद्ध काया से ईश्वर सर्वथा रहित है। (अपापविद्धम्) पाप फलों से सर्वदा रहित है क्योंकि काया से ही पाप होना सम्भव है (कविः) सब का देखने वाला है आत्मा से भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं (मनीषी) मनका भी अध्यक्ष स्वामी सर्वज्ञ है (परिभूः) सर्वोपरि वर्त्तमान (स्वयम्भूः) सृष्टि के आरम्भ में वा बीच२ भक्त जीवों पर कृपा करने के लिये अवतार रूप से स्वयं प्रकट होने वाला ऐसा नित्य मुक्त ईश्वर (समाभ्यः)परिमित वर्षोंतक अवस्था वाली वा अपनी दृष्टि में तुल्य (शाश्वतीभ्यः) जातिरूप से वा कल्पकल्पान्तरों में प्रवाहरूप से निरन्तर वर्त्तमान प्रजाजनों के लिये (याथातथ्यतः) कर्मानुसार अर्थात् भोगने योग्य फलरूप पदार्थों को (व्यदधात्) विधान करता अर्थात् यथायोग्य फल देता है। एक श्रुति में कहा है कि सृष्टिके आरम्भ में सब से पहिला शरीर धारी वही परमेश्वर हुआ। मनुस्मृति में लिखा है कि अनेक प्रकार की प्रजा सृष्टि करना चाहते हुए ईश्वर ने विचार पूर्वक अपने शरीर से सूक्ष्म जल तत्त्व प्रथम रचा। तथा उसके शरीर से असंख्य प्राणियों की मूर्त्तियां उत्पन्न हुआ करती हैं। इत्यादि श्रुतिस्मृति के प्रमाणों से भगवान् का शरीरधारी होना स्पष्ट सिद्ध है। और इस ८वें मन्त्र में अकाय कहने द्वारा शरीर का निषेध किया है इस विरोध का समाधान यह है कि-शुभाशुभ फल भोगार्थ कर्मों से संचित नाम बना शरीर ही काय कहाता है सो वैसे काय नामक शरीर को भगवान् कदापि धारण नहीं करते किन्तु ब्रह्मा विष्णु रुद्र राम कृष्ण वामननृसिंहादि आकार वाले दिव्य शरीरों को स्वयमेव धारण करने से भगवान् स्वयम्भू कहाते हैं। यदि काय पद सब प्रकार के शरीरों का बोधक माना जाय तो कैसा ही शरीर ईश्वर का न होने से व्रण और नाडी नसों का किसी प्रकार होना सम्भव ही नहीं (सति कुड्ये चित्रं भवतीति न्यायात्) भीत हो तो चित्रकारी हो सक्ती है जैसे कोई कहे कि भीत - नाम दीवार नहीं है फिर कहे कि उस में चित्रकारी भी नहीं है तो यह कहना व्यर्थ होगा क्योंकि भीत के विना चित्रकारी तो हो ही नहीं सकती फिर उसका निषेध करना मिथ्या है। इसी के अनुसार जब ईश्वर का कैसा भी शरीर नहीं तो व्रण तथा नाडी नसें तो हो ही नहीं सकतीं इस लिये मन्त्र का अभिप्राय यह है कि काय नाम कर्म संचित ईश्वरका शरीर नहीं किन्तु उसका

दिव्य शरीर तो अवश्य होना है पर उस दिव्य शरीर में व्रण और नाडी नसों का बन्धन काय के तुल्य नहीं होता यदि कुछ हो भी तो वह व्रण तथा नसों में परिगणित नहीं होता। जिनका नाम व्रण वा स्नायु रक्खा गया है वे कायनामक शरीर में ही होते और भगवान् के दिव्य शरीरों में नहीं होते ऐसा जताने के लिये व्रण और स्नायु का निषेध कियागया है। चिञ् -चयने -धातु से काय शब्द बनता है इसीकारण कर्मों से संचित होनेवाला शरीर काय कहाता है। द्वितीय समाधान यह भी हो सकता है कि निरुपाधिक निर्गुण निराकार ब्रह्म शरीर रहित है और सोपाधिक सगुण साकार सृष्टि कर्त्ता ईश्वर दिव्य शरीर वाला होता है, अपने२ भिन्नांशों में दोनों ठीक हैं विरोध कुछ नहीं है ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयइव ते तमो यउ विद्यायांᳬरताः॥९॥

अन्धम्। तमः। प्र। विशन्ति। ये। अविद्याम्। उपासते। ततः। भूयइव। ते। तमः। ये। उ। विद्यायाम्। रताः। ॥ ९ ॥

अ०—(ये) वेदार्थाज्ञत्वेन कर्माङ्गदेवतादिभेदमजानन्तः (अविद्याम्) केवलं कर्मकाण्डमात्रम् (उपासते) तत्तत्कर्मवन्तस्सन्तो निरन्तरं सेवन्ते ते (अन्धन्तमः,प्रविशन्ति) आत्मज्ञानप्रकाशवर्जितं ब्रह्मादिस्थावरान्तं जन्ममरणप्रवाहमेव प्रविशन्ति नतु ततो मुच्यन्त इति (य उ) ये च (विद्यायां, रताः) कर्मसम्बधिदेवतादिविज्ञानरूपकर्मकाण्डविद्यावादे तत्पराः (ते, ततः) अविद्योपासनादपि (भूय इव) वहुतरमेव (तमः) अन्धकारम् (प्रविशन्ति) विद्यातोऽन्याऽविद्या कर्म, तदपेक्षया देवतादिविज्ञानं विद्या नात्र विद्यापदेन ब्रह्मतत्त्वज्ञानं स्वीक्रियते नहि तत्त्वज्ञाने तमःप्रवेशः सम्भवति मानुषजन्मापेक्षया कर्मणस्तत्सम्बन्धिने देवतादिविज्ञानस्य च यद्यपि पितृदेवादिलोकप्राप्तिरूपं फलमत्युत्तमं तथापि परमात्मतत्त्वज्ञानसहयोगिमोक्षापेक्षया तस्यान्धन्तमस्त्वमुच्यते ब्रह्मलोकावधि संसारगतेः सत्वात्। उपासते,रताइति पदाभ्यामवसीयते ये कर्मणस्तदधिष्ठातृदेवज्ञानस्यैव परमपुरुषार्थत्वं मत्वा तत्रैव रमन्ते तएवात्र निन्द्यन्ते येचाक-

र्मादि कुर्वन् मोक्षाय यतन्ते न ते कर्मादौ रताः सन्ति ॥ ९ ॥

भाषार्थः- (ये) जो वेद के तत्त्वरूप अर्थ को न जानने वाले (अविद्याम्) इस कर्म से इस फल को प्राप्त होंगे ऐसी बुद्धि से कर्म और कर्मफलों में रात दिन लगे हुए केवल कर्मकाण्ड का (उपासते) उस २ कर्म के अभिमानी हो कर सेवन करते हैं (ते) वे (अन्धम्, तमः) आत्मज्ञान के प्रकाश से रहित ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्य्यन्त ८४००००० योनियों में जन्ममरणके प्रवाहको (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं किन्तु उस प्रवाह से पार नहीं होते (य उ) और जो (विद्यायाम्) कर्म सम्बन्धी देवतादि के जानने रूप विद्यावाद में (रताः) रमते हैं (ते) वे (ततः) उस अविद्यारूप कर्म की उपासना करने वाले से भी (भूयइव) अत्यन्त अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं। विद्या से भिन्न कर्म का नाम यहां अविद्या है, उसकी अपेक्षा कर्माङ्ग देवतादि का ज्ञान विद्या है किन्तु यहां विद्या पद से ब्रह्म का तत्त्वज्ञान नहीं लेना है क्योंकि उस आत्मज्ञान में अन्धकार का प्रवेश नहीं होसकता। मानुषजन्म की अपेक्षा यज्ञादि कर्म और उसके सम्बंधी देवतादिके जानने का फल यद्यपि पितृलोक तथा देवादि लोकों की प्राप्तिरूप अत्युत्तम है। तथापि परमात्म तत्त्वज्ञान संबंधी मोक्ष की अपेक्षा उस कर्मादि का फल अन्धकार में पड़ना कहा है क्योंकि ब्रह्मलोक पर्यन्त संसारी आवागमन लगा है। इस मन्त्र में- उपासते, रताः, इन दो पदों से यह दिखाया है कि जो कर्म तथा देवताज्ञान को ही परम पुरुषार्थ का अन्तिम फल मानते और उसी में रमते हैं उन्हींकी यहां निन्दा की है। किन्तु जो कर्म करते और वेदोक्त देवतावाद को जानते हुए भी आत्मतत्त्वज्ञानकी सर्वोपरि प्रधानताको भूले नहीं हैं उनकी यहां निन्दा नहीं है ॥ ९ ॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

अन्यत्। एव। आहुः। विद्यया। अन्यत्। आहुः। अविद्यया। इति। शुश्रुम। धीराणाम्। ये। नः। तत्। वि। चचक्षिरे ॥ १० ॥

अ०-विद्ययाऽन्यदेव देवलोकादिप्राप्तिरूपं फलमाहुः (वदन्ति) अविद्ययान्यदेव पितृलोकादिप्राप्तिरूपं फलमाहुःइति(एवम्प्रकारेण)वयं धीराणाम्(धीमतामाचार्याणाम्) वचः शुश्रुम (श्रुतवन्तः)

ये (आचार्य्याः) नः (अस्मभ्यम्) तत् कर्म च ज्ञानं च विचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकइति श्रुत्युक्तः कर्मतज्ज्ञानफलभेदो गुरुशिष्यपरम्परयानादिकालात्सर्वविज्ञैरास्तिकैः श्रूयते। एतदेवास्य श्रुतित्वादनादिवेदत्वमस्ति१०॥

भाषार्थः- विद्वान् लोग (विद्यया) देवता के ज्ञान से (अन्यदेव) देवलोक की प्राप्तिरूप फल को (आहुः) कहते और (अविद्यया) कर्म के अनुष्ठान से (अन्यत्) पितृलोकादि की प्राप्ति रूप फल (आहुः) कहते हैं (इति) इस प्रकार हम लोगों ने (धीराणाम्) बुद्धिमान् गुरुजनों आचार्य्योंके वचन(शुश्रुम)सुनेहैं (ये) जो आचार्य (नः) हमारे लिये (तत्) उस कर्म तथा ज्ञान का (विचचक्षिरे) उपदेश करगये हैं। कर्मानुष्ठान मात्र से पितृ लोक व्याकरणादि से अनभिज्ञोंको प्राप्त होता और षडङ्गवेद के ज्ञाता देवतादिको जानने वाले विद्वान् कर्मकाण्डी को देवलोक प्राप्त होता ऐसा श्रुति में कहा कर्म तथा ज्ञानका फलभेद गुरुशिष्यपरम्परा के द्वारा अनादि काल से सब आस्तिक विद्वान् सुनते आते हैं। यही इसका श्रुतिपन नाम अनादि वेदत्व है ॥ १० ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

विद्याम्। च। अविद्याम्। च। यः। तत्। वेद। उभयम्। सह। अविद्यया। मृत्युम्। तीर्त्वा। विद्यया। अमृतम्। अश्नुते ॥ ११ ॥

अ०—यः (वेदतत्त्वार्थवित्) पूर्वोक्तां विद्यां चाविद्यां च तदुभयं सह (एकेनैव पुरुषेणानुष्ठेयं) वेद (जानाति) सः, अविद्यया (कर्मणानुष्ठितेन शुद्धान्तःकरणः सन्) मृत्युम् (पुनःपुनर्मानुषादियोनौ जन्ममरणप्रवाहम्) तीर्त्वा (पारमुत्तीर्य्य) विद्यया (देवताज्ञानेन) अमृतम् (देवतात्मभावममरत्वम्) अश्नुते (प्राप्नोति) नवमादिमन्त्रत्रयस्यायमाशयः। अत्र विद्यापदं सापेक्षदेवताज्ञानपरमविद्यापदं च केवलकर्मपरं यद्व्याकरणाद्यनभिज्ञाः पाठमात्रंवेदमधीयानाः केवलमग्निहोत्रादिकर्म कुर्वन्ति

ये च व्याकरणनिरुक्तकल्पमीमांसादिविषयान् सम्यग्जानाना विख्यातपाण्डित्या वेदवादरतास्तेषामेव द्विविधानां स्वर्गादिगामिनामपि मोक्षापेक्षयात्र निकृष्टा गतिर्दर्शितास्ति। मृत्योस्तरणममृतप्राप्तिरप्यत्र सापेक्षा मानुषमृत्युनिषेधात्मिका देवत्वप्राप्तिरूपा चेष्टाऽतएवान्धन्तमःप्रवेशो विद्याऽविद्ययोर्द्वयोरेवोपासने समाविष्टः ॥ ११ ॥

भाषार्थः-(यः) जो वेदके अर्थ को जाननेवाला विद्वान् (विद्याम्, च, अविद्याम्, च)पूर्वोक्त विद्या अविद्या (तदुभयम्, सह) उन दोनों को एक ही पुरुष से सेवने योग्य (वेद) जानता है (सः) वह (अविद्यया) कर्मकाण्ड के अनुष्ठान से शुद्ध अन्तःकरण वाला हुआ (मृत्युम्) वार २ मनुष्यादि योनि में जन्ममरण के प्रवाहरूप नदी के (तीर्त्वा) पार हो के (विद्यया) देवताके ज्ञान से (अमृतम्) देवता रूप अमर भाव को (अश्नुते) प्राप्त होता है ।९।१०।११। तीनों मन्त्रोंका अभिप्राय यह है कि यहां विद्या शब्द से देवता भेद का ज्ञान और अविद्या शब्द से व्याकरणादि जन्य बोध रहित पाठमात्र वेद पढे जिन लोगों का केवल अग्निहोत्रादि कर्म लिया जाता है उन अनभिज्ञ कर्मकाण्डियों तथा व्याकरण निरुक्तादि के जानकार विद्वान् वेदवादी कर्मकाण्डियों को स्वर्गादि शुभफल प्राप्ति होनी मोक्षकी अपेक्षा निकृष्ट दिखायी हैं। तथा मृत्यु से पार होकर अमर होना भी मानुषी मृत्यु से वचके देवत्व प्राप्तिरूप सापेक्ष ही जानो। इसी से विद्या अविद्या दोनोंकी उपासना में ब्रह्मज्ञान से विपरीत अज्ञानान्धकार में प्रवेश होना दिखाया गया है ॥ ११ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउ सम्भूत्याᳬं रताः १२

अन्धम् । तमः । प्र । विशन्ति । ये । असम्भूतिम् । उपासते । ततः । भूयइव । ते । तमः । ये । उ । सम्भूत्याम् । रताः ॥ १२ ॥

अ०— (ये) अविद्वांसः (असम्भूतिम्) सम्भूयते या सा सम्भूतिः कार्यरूपं जगत् सा यत्र न विद्यते साऽसम्भूतिः कारणं प्रकृतिर्जडात्मिका ताम् (उपासते) भजन्ते ते (अन्धन्तमः,प्रविशन्ति) अज्ञानात्मकमन्धकारं प्राप्नुवन्ति (ततः)

तस्मात्प्रकृत्युपासनस्य प्रकृतिलीनत्वादिफलम् (भूयइव) बहुतरमेव (तमः) अन्धकारम् (ते) प्राप्नुवन्ति (य उ) ये च (सम्भूत्याम्) कार्ये ब्रह्माणि हिरण्यगर्भाख्ये (रताः) उपासनातत्पराः। अर्थात् ये प्रकृतिरूपमव्याकृतमुपासते ये च महत्तत्त्वादिरूपेण संभूतं सूक्ष्ममुपासते ते सर्वेऽपि- अज्ञानान्धकारमाप्नुवन्ति नैव कदाचित्कल्याणं लभन्ते। षोडशविकारा अष्टौ प्रकृतय इति चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि तत्र प्रकृतिरसंभूतिर्महत्तत्त्वादिकं च सूक्ष्ममपि संभवनात्संभूतिस्तयोरुपासनमनात्मवादिनो नास्तिकाएव कुर्वन्ति। आस्तिकास्तु ब्रह्मैवोपासते सति ब्रह्मण्यसदुपासका नास्तिकाः। असति सच्चिन्तका आस्तिकाः ॥१२॥

भाषार्थः- (ये) जो अविद्वान् लोग (असम्भूतिम्) उत्पत्ति रहित जड स्वरूप कारण प्रकृति की (उपासते) उपासना करते हैं वे (अन्धम्, तमः) अज्ञानरूप अन्धकार को (प्रविशन्ति) प्राप्त होते हैं (ततः) उस प्रकृति की उपासना से प्रकृति में लीन होना आदि फल से (भूयइव) बहुत अधिक (तमः) अन्धकारको वे लोग प्राप्त होते हैं (ये, उ) कि जो (सम्भूत्याम्) हिरण्य गर्भादि रूप में (रताः) रत हैं जो लोग उस जगत् को अभीष्ट साधक समझके सेवन वा उपासना करते हैं।अर्थात् जो प्रकृतिकी उपासना करते और महत्तत्त्वादि रूप से सम्भव सूक्ष्म माया की उपासना करते हैं वे सभी अज्ञानरूप अन्धकार को प्राप्त होते हैं किन्तु कभी कल्याण को नहीं प्राप्त होते। आठ प्रकृति तथा सोलह विकार ये चौवीस तत्त्व हैं उन में एक प्रकृति असम्भूति और सूक्ष्म होने पर भी महत्तत्त्वादि संभूति है उस दो प्रकार की माया की उपासना अनात्मवादी नास्तिक करते हैं। आस्तिक सनातनधर्मी लोग तो एक ब्रह्मकी ही उपासना करते हैं।सत् ब्रह्म में असत् जडके उपासक नास्तिक कहाते और असत् मायाजन्य मूर्त्ति में सत् ब्रह्म के उपासक आस्तिक होते हैं ॥ १२ ॥

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

अन्यत् । एव । आहुः । सम्भवात् । अन्यत् । आहुः । असम्भवात् । इति । शुश्रुम । धीराणाम् । ये । नः । तत् । विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

अन्वयः— (सम्भवात्) संभूतेर्महदादिकार्यस्योपासनात् (अन्यदेव) अणिमाद्यष्टसिद्धिरूपमैहिकं फलम् (आहुः) कथयन्ति (असम्भवात्) असंभूतेरव्याकृतजडकारणोपासनात् (अन्यत्) प्रकृतिलीनत्वादिकं फलम् (आहुः) कथयन्ति । (इति) एवं प्रकारम् (धीराणाम्) विदुषां वचो वयम् (शुश्रुम) शृणुमः (ये) विद्वांसः (नः) अस्मभ्यम् (तत्) उपदेशरूपं वचः (विचचक्षिरे) व्याचक्षते ॥ १३ ॥

भावार्थः— (सम्भवात्) संभूति नाम महत्तत्वादि कार्य जगत् की उपासना से (अन्यदेव) आत्मज्ञान से होने वाले नित्यस्थायी सुख से रहित अणिमा महिमादि अष्टसिद्धि रूप संसारी नाशवान् सुख फल को (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) असम्भूति नाम प्रकृति रूप जड कारण की उपासना से (अन्यत्) प्रकृति में लीन होना आदि फल को (आहुः) कहते हैं (इति) इस प्रकार (धीराणाम्) विद्वानों के वचन हम लोग (शुश्रुम) सुनते हैं (ये) जो विद्वान् जन (नः) हमारे लिये (तत्) उस उपदेशरूप वचन को (विचचक्षिरे) व्याख्यान करते हैं ॥ अर्थात् कार्य कारण जगत् की उपासना से क्या२ फल होते हैं उन का पृथक् २ व्याख्यान जिज्ञासु लोग विद्वानों से पूछें और विद्वज्जन इन का पृथक्२ फल यथार्थरूप से दर्शावें जिससे मनुष्यों को कल्याण का मार्ग ज्ञात हो जावे ॥१३॥

सम्भूतिञ्च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते १४

सम्भूतिम् । च । विनाशम् । च । यः । तत् । वेद । उभयम् । सह । विनाशेन । मृत्युम् । तीर्त्वा । सम्भूत्या । अमृतम् । अश्नुते ॥१४॥

अ०—कार्यकारणोपासनयोः फलभेदस्तदुपासनेनाकल्याणप्राप्तिश्चोक्ता । इदानीं समुच्चयोपासनफलमुच्यते । (यः) पुरुषः (सम्भूतिम्) महदादि कार्यं जगत् (च) तन्नियमान् (विनाशम्) अदर्शनात्मकं महदादेर्जगतउत्पत्तिकारणम् (च) वासनादिरूपेण स्थितिनियमान् (तत्, उभयम्) एतद्द्वयम् (सह) (वेद) जानाति सः (विनाशेन) अदृष्टकारणस्य तत्त्वविज्ञाने-

न (मृत्युम्) अनैश्वर्यमधर्मकामासक्तिप्रभृतिस्थूलदोषात्मकं मृत्युम् (तीर्त्वा) उत्तीर्य्य (सम्भूत्या) महदादिना सहैव (अमृतम्) मानुषादिरूपजन्ममरणराहित्यं विदेहत्वप्रकृतिलयत्वादिरूपेण कैवल्यसुखस्येवानुभवनम् (अश्नुते) प्राप्नोति। द्वादशादि मन्त्रत्रयस्यायमाशयः-देवादिलोकस्था देवा मानुषादिभ्य उत्तमदशास्थाः सुखिनोऽपि सर्वोत्कृष्टमोक्षदशाप्राप्त्यपेक्षया तेषां निन्दनं मानुषाद्यपेक्षया मृत्योस्तरणममृतप्राप्तिश्चेत्युभयमविकलम्।तथा च वायुपुराणे-दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्त्वशतंपूर्णं सहस्रंत्वाभिमानिकाः॥ बौद्धाद्दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः। पूर्णंशतसहस्रंतु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥ पुरुषंनिर्गुणंप्राप्य कालसंख्यानविद्यते॥ तदस्य पुनर्भवप्राप्तिहेतुतया हेयत्वं सिद्धमिति योगभाष्ये वाचस्पतिमिश्रः। योगसू० १।१९॥१४॥

भाषार्थः-कार्यकारण की उपासना का फलभेद और उस की उपासनासे कल्याणकी प्राप्ति न होना पूर्व कहा, अब जो दोनों कार्यकारण को एक साथ जानता हुआ सेवन करता है उस का फल कहते हैं (यः) जो पुरुष (सम्भूतिम्) महत्तत्वादि कार्य्य जगत् (च) और रचना के नियमों को (विनाशम्) महत्तत्वादि कार्य्य की उत्पत्तिके अदृश्य कारण को (च) और वासनादि रूप से स्थिति के नियमों को (तत्, उभयम्) इन दोनों के तत्त्वों को (सह, वेद) साथ जानता है वह (विनाशेन) अदृष्ट कारण के तत्त्वज्ञान से (मृत्युम्) अनैश्वर्य्य नाम अणिमादि सिद्धियों का न होना तथा मानुषादिशरीरों सम्बन्धी स्थूल अधर्म वा कामासक्ति आदि स्थूल दोषरूप मृत्यु को (तीर्त्वा) तर के (सम्भूत्या) उत्पन्न हुए महत्तत्त्वादिके साथ ही (अमृतम्) मनुष्यादि रूप जन्ममरण से छूटना देवयोनि वा प्रकृतिलय रूप से मोक्ष सुख जैसे अनुभव रूप सुख को (अश्नुते) प्राप्त होता है

भा०-बारह आदि तीन मन्त्रों का संक्षेप से अभिप्राय यह है कि स्वर्गादि लोकों में रहने वाले देवादि प्राणी यद्यपि मनुष्यादिकी अपेक्षा अत्युत्तम दशा में सुखी हैं तथापि निर्वाण मोक्ष की अपेक्षा से फिर२ जन्म मरण के प्रवाह में वे भी आते हैं यही अज्ञानान्ध-

कार में प्रवेश होना रूप उन की निन्दा है और मनुष्य पश्वादि रूप में वार२ शीघ्र२ होने वाले जन्म मरण से तर के देवरूप से अमर होना यह प्रशंसा मनुष्यादि की अपेक्षा से है इससे दोनों ठीक हैं। वायुपुराण में महदादि सूक्ष्म कार्य तथा कारणकी उपासनाके देवादि योनि प्राप्ति फल दिखाये हैं। सूक्ष्म–इन्द्रियोपासक दश मन्वन्तर, सूक्ष्म भूतोपासक सौ मन्वन्तर, अहंकारके उपासक एक हजार मन्वन्तर, महत्तत्त्वरूप बुद्धि वा हिरण्यगर्भ के उपासक दश हजार मन्वन्तर, और अव्यक्त प्रकृति के उपासक एक लाख मन्वन्तर पर्यन्त मुक्तों के तुल्य आनन्द में रहते हैं। उस के वाद वे सव फिर संसार में आते हैं परन्तु निर्गुण परमात्मा को प्राप्त हुओंकी पुनरावृत्ति नहीं होती। सो इन सव की पुनरावृत्ति होने के कारण ही उनको त्याज्य वा निन्दनीय कहा गया है यह योगभाष्य में वाचस्पति मिश्र ने कहा है ॥ १४ ॥

हिरण्मयेनपात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखम्।
तत्त्वंपूषन्नपावृणु सत्यधर्मायदृष्टये ॥१५॥

अ०–पूर्वं विद्ययाऽमृतमश्नुतइत्युक्तं तत्र केन पथा तदमृतं प्राप्यतइत्युच्यते हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेणेवापिधानरूपेणादित्यमण्डलेनाधिष्ठानेनाधिष्ठातुरादित्यमण्डलान्तर्गतस्यादित्यनामरूपात्मकदेवस्य सत्यस्य ब्रह्मणो मुखं द्वारमपिहितमाच्छादितमस्ति। हे पूषन्! देव! सत्यधर्माय दृष्टये सत्यं स्वभावेन सदैवाविकृतं धर्मस्वरूपं द्रष्टुं तन्मुखं द्वारमपावृणु। अथवा सत्यं धर्मो यस्य मम तस्मै सत्यधर्माय मह्यं तद्द्वारमपावृणु। अथवा हिरण्मयमिति सुवर्णस्योपलक्षकम्, हिरण्मयेन सुवर्णादिधनैश्वर्यलोभेन सत्यस्य परमपदप्राप्तेर्मुखं द्वारमपिहितं हेपूषन्! तत्त्वं सत्यधर्मस्य दृष्टये दर्शनायापावृणु भगवदुपासनेन तत्कृपयैवावरणापगमेन जीवः संसारवन्धनान्मुच्यतइत्याशयः ॥ १५ ॥

भा०–विद्या से देवत्वरूप अमर भाव को प्राणी प्राप्त होता है ऐसा पहिले कह चुके हैं, सो किस मार्ग से वह अमर भाव प्राप्त होता है यह वात यहां दिखाते हैं (हिरण्मयेन पात्रेण) प्रकाश मय ढक्कन के तुल्य अधिष्ठान रूप आदित्य मण्डल से सूर्य मण्डल के अन्त-

गत (सत्यस्य मुखमपिहितम्) सत्य स्वरूप परमात्मा का मुख नाम द्वार ढंपा हुआ है। अर्थात् अधिष्ठान रूप सूर्यमण्डल भी माया का ही एक अंश है और सर्वत्र माया से ही आत्म तत्त्व ढंका हुआ है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि सुवर्णादि धनैश्वर्य जो अनेक संसारी दुःखों से मनुष्यादि की रक्षा करता है उसी से नाम उसी के लोभ में फंसे होने से सत्य स्वरूप आत्मा के ज्ञान का द्वार ढंपा हुआ है॥ हे (पूषन् !) पूषा नाम रूपात्मक परमात्मन्! (सत्यधर्माय दृष्टये,) सत्य नाम स्वभाव से ही सदा अविकारी धर्म स्वरूप आप को साक्षात् करने के लिये (तत्त्वमपावृणु) उस दर्वाजे को तुम ही खोलो। अथवा आप की उपासना रूप सत्य है धर्म जिस का ऐसे सत्यधर्म मेरे लिये उस द्वार को तुम खोलो। अथवा संसार समुद्र से पार करने वाले सत्य धर्म को जानने के लिये मेरे हृदय के किवाड खोलो। सारांश यह है कि (मामेव ये प्रपद्यन्ते०) भगवान् की उपासना और भक्तिविशेष द्वारा हुई भगवत्कृपा से ही अज्ञान के आवरण रूप माया के किवाड खुलने पर यह जीव संसार के बन्धनों से मुक्त हो सकता है॥ १५॥

पूषन्नेकर्षेयमसूर्यप्राजापत्यव्यूहरश्मीन्समूह। तेजोयत्तेरूपंकल्याणतमन्तत्तेपश्यामि योऽसावसौपुरुषःसोऽहमस्मि ॥१६॥

अ०— जगतः पूषणात्पूषा रविः,यएकएवासहाय ऋषति गच्छति सएकर्षिस्तत्संबुद्धौ,सर्वस्य संयमनाद्यमः, रसात्मकप्राणानां स्वीकरणात्सूर्यः,प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः, पत्युत्तरपदाण्ण्यः। तत्सम्बुद्धौ हे पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य! आदित्यमण्डलावच्छिन्न सूर्यनामरूपात्मक विष्णो!त्वं सर्वस्मिन् चराचरे जगति जीवनशक्तिरूपान् स्वान् रश्मीन् व्यूह विगमय तथा तान् रश्मीन् समूह संगृहीतान् कुरु ते तव यत्कल्याणतमं तेजोरूपं ज्योतिःस्वरूपं शोभमानं यत्स्वरूपं तदहं तवात्मनः प्रसादात्पश्यामि योऽसावसौ योऽयमादित्यमण्डलान्तर्गतः प्राणबुद्ध्यात्मना समस्तस्य जगतः पूरकः प्राणादिरूपेण सर्वत्र पूर्णो व्याप्तोऽतएव पुरुषः सोऽहमस्मि सएवाहमप्यस्मीति ज्ञानी मनुष्यः सर्वत्रैकमेवात्मानं पश्येद् ध्यायेत्। जगति प्रत्यक्षे ये पदार्थाश्चमत्कार

युक्ता दृश्यन्ते तेषु सर्वापेक्षयाऽऽदित्यमण्डले परमात्मनोऽत्यन्तं माहात्म्यं ज्ञानिभिरनुभूयतइत्याशयः ॥ १६ ॥

भाषार्थः— हे (पूषन्) सब भक्तों की वृद्धि करने वाले, (एकर्षे) विना किसी की सहायता एक ही घूमने वाले (यम) सब को वश में रखने वाले (प्राजापत्य) प्रजापति परमात्मा से प्रकट हुए (सूर्य) रसात्मक प्राणशक्ति को सब पदार्थों में से खैंचने वाले आदित्य मण्डल में विद्यमान सूर्य नाम रूपात्मक विष्णो! तुम (रश्मीन् व्यूह समूह) सब चराचर जगत् में अनेक रूपों से व्याप्त जीवन शक्ति रूप अपने किरणोंको फैलाओ और समेटो (यत्ते कल्याणतमं तेजो रूपं तत्ते पश्यामि) हे सूर्य भगवन्! जो अत्यंत शोभायमान अत्यंत कल्याणकारी आप का प्रत्यक्ष तेजःस्वरूप है उसको मैं आपकी कृपासे देखताहूं। ईश्वर की कृपा से उपासक ज्ञानीको सूर्यमण्डलमें साक्षात् भगवान् दीखने लगते हैं जैसा कि छान्दोग्योपनिषद्में कहा है कि (अथ यऽएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते) जो यह आदित्य मण्डल के बीच सुवर्ण की सी चमक वा तेज वाला पुरुष परिपक्क उपासक को दीखता है वह साक्षात् विष्णुभगवान् का ही एक रूप है उस रूपका नाम उत् है। उसी वात को यहां भी कहा है कि हे भगवन् जो तुह्मारा कल्याणतम रूप है उसको मैं देखता हूं। यहां यह भी सिद्ध होता है कि साकार ईश्वर का ही कल्याणतम रूप दीखना वन सकता है, क्योंकि निराकार में कोई रूप ही नहीं है इसी से वह निराकार अरूप है। इस कारण केवल निराकारवाद का खण्डन भी इस प्रमाण से सिद्ध है (योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि) जो वह आदित्य मण्डल के बीच ज्योतिःस्वरूप पुरुष नाम प्राण बुद्धि आदि नामरूप से सब जगत् में पूर्ण व्याप्त ईश्वर है वही मैं भी हूं। ज्ञानी पुरुष सर्वत्र एक ही आत्मा को देखे जाने माने। जगत् में जो पदार्थ प्रत्यक्ष चमत्कार युक्त दीखते हैं उन में सबसे अधिक सूर्यमण्डल में ज्ञानी पुरुषों को परमात्मा का अत्यंत माहात्म्य प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। ओं क्रतोस्मर कृतꣳ स्मर क्रतोस्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७ ॥

अ०—ज्ञानीमरणात्प्रसरएवं मन्येत वदेच्च—शरीरं हास्यतो

मम प्राणात्मको वायुरमृतममरणधर्मकमनिलं सर्वात्मकं सूत्रात्मानं वायुं प्राप्नुयात् तद्रूपो भूयात्। लिङ्गशरीरं च ज्ञानसंस्कृतमुत्क्रामतु। अथेदं प्रत्यक्षं महाभूतजं स्थूलं शरीरमग्नौ प्रज्वलितं सद् भस्मान्तं [अन्त भस्म यस्य तादृशं] भूयात्। हे ओंक्रतो संकल्पात्मक मनः! स्मर-यत्त्वया स्मर्त्तव्यं तस्य कालआगतोऽस्ति तस्मात्स्मर कृतं स्मर-अद्यावधि भावितं कृतं विपत्तिजनितं नानारूपं दुःखं च स्मर। पुनर्वचनमतिशयद्योतनार्थम् ॥

भा०—अस्मिन् जन्मन्यनुभूतमिष्टवियोगानिष्टसंयोगजनितमखिलं दुःखमन्तकाले स्मरन् ज्ञानी देहादिप्रीतिं जह्याद्विषयभोगाच्चेतो निवर्त्तयेत्। प्राणगतिरेव शरीरेषु जीवनं सा च सूत्रात्मकव्याप्तवायोः परिणामः स च प्राणः स्वोपादाने लीयते स्थूलशरीरं च पृथिव्याः परिणामः सोऽपि भस्मात्मना भूमौ लीयते। ज्ञानी देहादिभ्यः सर्वथा विरक्तः परान्तकाले पष्ठाध्याये मनूक्तप्रकारेण स्मरन्देहं त्यक्त्वा मुच्यतएवेति निश्चयः ॥ १७ ॥

भाषार्थः-ज्ञानी पुरुष मरणसमय निकट आवे तब ऐसा माने और कहे कि शरीर छोडते हुए मेरा (वायुरमृतमनिलम्) प्राण मरण धर्म रहित सर्वत्र व्याप्त अमर सूत्रात्मा वायुरूप हो जावे। तथा ज्ञान से शुद्ध हुआ लिङ्ग शरीर नाम महत्तत्त्व प्रकृति में लीन होजावे। और (भस्मान्तं शरीरम्) महाभूतों से बना यह प्रत्यक्ष स्थूल शरीर अग्नि में जल कर अन्त में भस्मरूप होजावे (ओम्) मरण समय ओं ऐसा वार २ कहता हुआ उस के वाच्य भगवान् का ध्यान करे। तथा संकल्पात्मक मन से कहे कि (क्रतो स्मर) हे मन! जिस का स्मरण तुझ को करना चाहिये उस का समय आगया इससे अब यादकर (कृतं स्मर) जन्म से लेकर आज तक जो कुछ किया अर्थात् अनेक विपत्तियोंसे प्राप्त नानारूप दुःख भोगा है उस का स्मरण कर(क्रतो स्मर कृतं स्मर) इन दो वाक्योंका दुवारा कथन आवश्यकता दिखाने के लिये है कि अन्त समय ईश्वर का स्मरण मनुष्य को अवश्य करना चाहिये ॥

भावार्थः— इस वर्त्तमान जन्म भर में इष्ट वस्तुओं के वियोग वा अप्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तुओं के संयोग से होने वाले सैकडों दुःखों का जो अनुभव किया है। मरण समय निकट आने पर उस सब का स्मरण करता हुआ ज्ञानी देहादि से प्रीति को छोडे,

विषय भोग की वासना से चित्त को हटावे। प्राण का चलना ही शरीरों में मुख्य कर जीवन है सो वह प्राण सूत्रात्मा रूप से व्याप्त सूक्ष्म वायु का परिणाम है वह प्राण अपने उपादान सूत्रात्मा वायु में लीन होजाता है। तथा यह स्थूल शरीर अन्य महाभूतों की सहायता से पृथिवी तत्त्व का परिणाम हुआ है सो वह शरीर भी भस्मरूप होकर इसी पृथिवी में लीन हो जाता है। इसी मन्त्र का अभिप्राय लेकर (ओमित्येकाक्षरंब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्) इत्यादि विचार श्रीभगवद्गीता में कहा है इससे वह गीता का कथन सर्वथा वेदानुकूल है इस लिये अन्त समय में ब्राह्मणादि को प्रणव के उच्चारण द्वारा भगवान् का स्मरण अवश्य करना चाहिये और ज्ञानी पुरुष शरीरादि से सर्वथा विरक्त हुआ अन्त्य के मरण समय में छठे अध्याय में मनुजी के कथनानुसार स्मरण करता हुआ शरीर को छोडे तो अवश्य मुक्त होजाता है॥ १७॥

अस्थिस्थूणंस्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्
चर्मावनद्धंदुर्गन्धि-पूर्णंमूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यंच भूतावासमिमंत्यजेत् ॥ ७७ ॥
नदीकूलंयथावृक्षो वृक्षंवाशकुनिर्यथा।
तथात्यजन्निमंदेहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥
प्रियेषुस्वेषुसुकृत-मप्रियेषुचदुष्कृतम्।
विसृज्यध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येतिसनातनम् ॥ ७९ ॥

भा०-इस शरीर में हाडों के खंभे लगे हैं यह शरीर रूप घर वा छप्पर नसोंरूप रस्सियों से बंधा मांस और रुधिर से लीपा, चाम से जकडा, मलमूत्र की दुर्गन्ध से ठसाठस भरा, वृद्धावस्था तथा शोक से युक्त, रोगोंका घर, सदा दुःखी, इस घरके नौ मार्गों से मलिनता निकलती, पृथिव्यादि पांच भूतोंका घर, है इस अनित्य घरको छोडना चाहिये, नदी के किनारे वाला वृक्ष जैसे नदीके तट को छोडता हुआ उससे मोह नहीं करता और रात को वसा पक्षी वृक्ष से उडता हुआ उस वृक्ष का कुछ मोह नहीं करता उसी प्रकार शरीरादि के साथ मोह रहित होकर शरीर को छोडता हुआ जीव मुक्त हो जाता है। शरीर त्यागने के समय ज्ञानी अपने मित्रों को पुण्य तथा अपने शत्रुओं को अपने पाप सोंप

देवे ऐसा ध्यान वा स्मरण करता हुआ शरीर को छोडे तो ज्ञानी मुक्त हो जाता है। यदि वास्तव में कोई ऐसा घर हो जिसमें हड्डियों के खंभे आदि हों तो उस के पास भी कोई समझदार नहीं जाता वैसे ही जानता मानता हुआ शरीर से मुक्त हो जाता है अर्थात् यदि कोई मनुष्य ठीक२ जानले कि जिस घर में मैं वसता हूं उस में हड्डियों के खम्भे, नसों के वन्धन, मांस, रुधिर का लेपन, चर्म से वंधा, मलमूत्र की दुर्गंध से भरा, इत्यादि प्रकार से अत्यन्त मलिन है तो वह उस घर से शीघ्र निकल भागेगा और फिर कभी वैसे घर में वसने का मन न करेगा। ठीक २ वैसाही घर यह मानुषी शरीर है जो जीव इस अपने शरीर रूप घरको उक्त प्रकार से घृणित समझ लेता है वह फिर वार २ इस शरीर में नहीं आता और मुक्त होजाता है॥

अग्नेनयसुपथारायेऽअस्मान् विश्वानिदेववयुनानिविद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्तेनमउक्तिंविधेम॥ १८॥

अ०=हेअग्ने=अग्निनामरूपावच्छिन्न परमात्मन्! देव! दीप्यमान!भगवन्!विश्वानि सर्वाणि वयुनानि कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान् जानानस्त्वमस्मान् राये मोक्षात्मकधनैश्वर्यलाभाय सुपथा शोभनेन देवयानेन मार्गेण नय। जुहुराणं कुटिलं वञ्चनात्मकं प्रतिवन्धकमेनो युयोधि पृथक्कुरु विनाशय। एतदर्थं वयं भूयिष्ठां भूयसीं नमउक्तिं नमस्कारात्मिकां वाचं विधेम प्रयुञ्ज्महि। सुपथेति पदे न पूजनादिति समासान्तनिषेधः।युयोधीत्यत्र विकरणव्यत्ययेन श्लुविकरणे=युमिश्रणामिश्रणयोरिति धातोर्लोटि मध्यमैकवचने छान्दसे हेर्धित्वे कृते रूपम्।जुहुराणमिति हुर्च्छाकौटिल्ये=इति धातोर्विकरणव्यत्ययेन श्लौ कृते शानजन्तं रूपम्॥

भा०=तदेवाग्निस्तदादित्यः०। इन्द्रंमित्रंवरुणमग्निमाहुः० अग्निंयमंमातरिश्वानमाहुः०। इत्यादिवेदमन्त्रेषु तथा—एतमेके वदन्त्यग्निं०। वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः०।इत्यादिस्मृतिषु च ब्रह्मणएवा

ग्निनामरूपात्मकत्वं प्रमाणितं दृश्यते तस्मादेव देहं जिहासुर्योगी ज्ञानी मार्गं याचते। पुनरावृत्तिहेतुकेन दक्षिणेन पितृयानेन न गच्छेयमेतदर्थं सुपथेत्युक्तम् । हृदयमालिन्यरूपं पापमेव परमात्मोपासनाया भक्तेश्च बाधकमतएव गीतासूक्तम्-येषामन्तगतंपापं जनानांपुण्यकर्मणाम् । तेद्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्तेमांदृढव्रताः ॥ तच्च पापं भगवत्कृपयैव नश्यतीत्यपि मन्त्रो दर्शयति। हेअग्ने भगवन्! सपापत्वादेव तव पूजां भक्तिमुपासनां च कर्तुमशक्ता वयं तस्मात्त्वया पापनाशे कृते शुद्धा वयं नमस्कारादिना भवत्पूजां कुर्यामेति तात्पर्यं दर्शयता वेदेनेश्वरप्रणिधानरूपस्य भक्तिविशेषस्योपासनस्यैव परमपदप्राप्तेः साधकतमत्वमुच्यते ॥ १८ ॥

भाषार्थः—हे (अग्ने,देव) अग्नि नाम रूप से दीप्यमान! अग्न्यात्मक भगवन्! (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब प्रकारके कर्मोंको और उन कर्मों सम्बन्धी अनेक विचारों को जानते हुए आप (अस्मान्) हम लोगों को (राये) मोक्षस्वरूप ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (सुपथा,नय) अच्छे प्रशस्त देवयान मार्ग से लेचलो (जुहुराणमेनो युयोधि) भुलाने वा रोकने वाले कुटिल अपराध वा पाप को पृथक् कीजिये। इसके लिये हम लोग (ते भूयिष्ठां नमउक्तिं विधेम) तुम को वार २ बहुत २ नमस्कार करते हैं ॥

भा०- (तदेवाग्नि०) इत्यादि वेदमन्त्रात्मक श्रुतियों से तथा (एतमेके वदन्त्यग्नि०) इत्यादि स्मृति प्रमाणों से यह सिद्ध है कि अग्नि ऐसा नाम रूप वाला भी ईश्वर ही है। मरण के समय ज्ञानी योगी पुरुष उसी अग्निरूप प्रत्यक्ष ईश्वर से मार्ग की याचना करता है। जिस मार्ग से जाने पर पुनरावृत्ति होती है उस पितृयान मार्ग से मैं न जाऊं इस लिये (सुपथा) पद मन्त्र में कहा है। हृदय का मलिनता रूप पाप ही परमेश्वर की उपासना वा भक्ति करने से मनुष्य को रोकता है इसी विचार से भगवद् गीता में कहा है कि (येषामन्त०) जिन लोगोंका पाप नष्ट हो जाता है वे ही मेरा निरन्तर भजन पूजन करते हैं। वह पाप भी भगवान्की कृपा से ही नष्ट होता है।यह बात भी मन्त्र दिखाता है कि हे अग्ने!अग्नि नाम रूपात्मक परमेश्वर! पाप के आवरण से अन्धे होने के कारण ही हम लोग आपकी पूजा भक्ति उपासना ठीक२ नहीं कर सकते तिससे आप

को नमस्कार वा स्तुति प्रार्थना करते हैं कि आप हमारे आवरण रूप पाप को नष्ट कीजिये तब शुद्ध हुए हम लोग आप की पूजा भक्ति करें ऐसा अभिप्राय दिखाते हुए वेद ने ईश्वरप्रणिधान रूप भक्ति विशेष नाम खास प्रकार की उपासना ही परम पद रूप मोक्ष प्राप्ति का सब से बड़ा साधन दिखाया है। और वेदकी समाप्ति में अग्न्यात्मक सगुण ईश्वर की भक्ति दिखाने से यह भी अभिप्राय है कि निर्गुण निराकार परमेश्वर की भक्ति उपासना मोक्ष का साधन नहीं हो सकती तात्पर्य यह है कि मनुष्य परमार्थकी ओर चलना चाहता हुआ भी फिर २ विषयरूपगढ़ों में गिरजाता है इस का कारण चित्त की मलिनता रूप पाप ही हैं और ये पाप अनन्त कोहरा के तुल्य चित्त भूमि को घेरे हैं। इन से छूटना महा कठिन है। भगवान् की शरणागति और वार २ स्मरण नमस्कार प्रणाम ही अर्थात् भगवान्को न भूलना ही इन पाप रोगों का महौषध है। यही अभिप्राय मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दिखाया है। इससे वेदका भी सारांश यही है कि भगवान् का भजन करो। सब कामों में भले ही भूल करो परन्तु इस में भूल मत करो ॥ १८ ॥

वाजसनेयिसंहितोपनिषदः संक्षेपेणायमभिप्रायः—ईशावास्यमित्याद्येन मन्त्रेण त्रिविधैषणापरित्यागपूर्विका ज्ञाननिष्ठा प्रदर्शिताऽयमेवात्र मुख्यो वेदार्थः। तां च ज्ञाननिष्ठामप्राप्तानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसम्भवे—कुर्वन्नेवेति द्वितीयमन्त्रेण कर्मनिष्ठोक्ता नायं नियमो यत्सर्वएव पूर्णविरक्ताः परवैराग्ययुक्ता ज्ञाननिष्ठाएव भवेयुः। तथा सति ये मध्यकोटिस्थाः कर्माधिकारिणस्तदर्थं द्वितीयमन्त्रे धर्म्यकर्मोपदेशः। तृतीयाद्यष्टमावधि षट्सु मन्त्रेषु ज्ञाननिष्ठायांएव प्राधान्यं दर्शितम्। असुर्यानामतेलोका इत्यादिनाऽज्ञाननिन्दाद्वारा ज्ञाननिष्ठस्य प्राशस्त्यमुक्तम्। एवं प्रथमे तृतीयाद्यष्टमावधि सप्तमन्त्रेषु विशेषेण ज्ञाननिष्ठाविचारः। नवमदशममन्त्रयोः कर्मनिष्ठाया द्वैविध्यस्यापि निन्दया ज्ञाननिष्ठाप्राशस्त्यं प्रदर्शितम्। एकादशे द्वैविध्यसमुच्चयेन मानुषजन्माद्यपेक्षया कर्मनिष्ठायाः प्राशस्त्यं प्रदर्शितम्। एवं द्वादशत्रयोदशयोर्ज्ञाननिष्ठाप्राशस्त्यमुच्यते चतुर्दशे मनुष्याद्यपेक्षया गौणोपासनायाः फलाधिक्यमुक्तम्। पंचदशादिमन्त्रचतुष्टये कर्मनिष्ठानामपि मर-

णावसरेऽधिमात्रतीव्रसंवेगेन सगुणेश्वरोपासनया सद्योजायमान ज्ञानेनापि परमपदप्राप्तिः सम्भवतीति दर्शितमिति संक्षिप्ताशयः ॥

भा०-इस वाजसनेयीसंहितोपनिषद् का संक्षेप से अभिप्राय यह है कि(ईशावास्यं०) इत्यादि प्रथम मन्त्र से तीन प्रकार की इच्छाओं के परित्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठा दिखायी है यही वेदका मुख्यार्थ है। उस ज्ञाननिष्ठा तक पहुंचने योग्य जो लोग नहीं हैं तथा संसार में पूरा निर्विघ्न सौवर्ष जीवनादि अभ्युदय नाम संसारी सुख वा सांसारिक उन्नति चाहते हैं उन मध्यस्थ अधिकारियोंके लिये द्वितीय मन्त्र से कर्मनिष्ठा वा कर्मयोग दिखाया है कि संसारी सुख की उन्नति सदा कर्मों से ही होगी। (कुर्वन्नेव) में एव शब्द से दिखाया है कि संसारी सुख चाहने वाला कर्म में अवश्य ही लगा रहे। यह नियम नहीं है कि सभी लोग पूर्ण विरक्त और अच्छे ज्ञानी होसकें ऐसा होने पर उन मध्य कोटि के कर्माधिकारियों को द्वितीय मन्त्र से कर्मका उपदेश किया है। तीसरे आदि आठ तक छः मन्त्रों में ज्ञाननिष्ठा की प्रधानता दिखायी है। तीसरे मन्त्र में अज्ञानी की निन्दा द्वारा ज्ञाननिष्ठ की प्रशंसा कही है। इस प्रकार प्रथम और तीसरे से आठ तक सात मन्त्रों में विशेष कर ज्ञान निष्ठाका विचार है। नवम दशम मन्त्रों में द्विविध भी कर्म निष्ठाकी निन्दा द्वारा ज्ञाननिष्ठा की उत्तमता दिखायी है। ग्यारहवें मन्त्र में द्विविध कर्म निष्ठा के समुच्चय से मानुषादि जन्म की अपेक्षा कर्म निष्ठा की प्रशंसा दिखायी है। इसी प्रकार १२। १३ मन्त्रों में ज्ञान निष्ठाकी प्रशंसा कही और चौदहवें मन्त्र में गौणोपासनाका विशेष फल मनुष्यादि की अपेक्षा से दिखाया है। और पन्द्रह आदि चार मन्त्रों में कर्मनिष्ठ मनुष्यों को भी मरण समय निकट आने पर अत्यन्त प्रबलता के साथ सगुण ईश्वर की उपासना से तत्काल ही ज्ञान होकर परम पद मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ऐसा विचार दिखाया है यह इस उपनिषद् का संक्षेप अभिप्राय है॥

इति भीमसेनशर्मसम्पादितं वाजसनेयिसंहितोपनिषद्भाष्यं समाप्तम् ॥

धर्मसम्बन्धी पुस्तकों का सूचीपत्र ॥